अतीत के चित्र

(मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास)

उपन्यासकार

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

राजहंस प्रकाशन

सदर बाज़ार, दिल्ली-६.

प्रकाशक—
राजहंस प्रकाशन,
रुई मण्डी, सदर बाजार
दिल्ली-६।

द्वितीय संस्करण : जून—१९६०

• • •

• • •

मूल्य—चार रुपए

मुद्रक—
अमरचन्द्र जैन,
राजहंस प्रेस,
रुई मण्डी, सदर बाजार,
दिल्ली-६॥

सादर भेंट—

'रानी को'

जिसकी स्मृति भी अब मिटती जा रही है।

—वियोगी

विज्ञप्ति

यह उपन्यास आपके सामने है। यह कैसा है, यह कहना मेरा काम नहीं है। इसमें क्या है, यह कह सकता हूँ।

इस उपन्यास का आधार है आज से २५०० साल का एक पुराना गणतन्त्र। इसे मैंने वैशाली गणतन्त्र कह कर स्मरण किया है। मगध का राजा था अजातशत्रु, जिसने वैशाली के महान् गणतन्त्र को मिट्टी में मिला दिया। अजातशत्रु का महामन्त्री था वर्षकार ब्राह्मण, जो अजातशत्रु के इस पाप-प्रयत्न का प्रधान सहायक था। उसने भगवान् बुद्ध से यह जान लिया कि किन गुणों के कारण वैशाली गणतन्त्र अजेय है। सरल हृदय भगवान् ने सारा रहस्य प्रकट कर दिया। इसके बाद ही उस महामायावी कूटनीतिज्ञ ने अपना खूनी पंजा फैला दिया। वैशाली गणतन्त्र की गर्दन उसके हाथ में अनायास ही आ गई। मैंने प्रयत्न किया है कि इसी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को अपने सामने रख कर एक उपन्यास लिखा जाय। लिखा और वह इस समय आपके सामने है।

मेरी प्रार्थना है कि इस उपन्यास में इतिहास की छाया खोजने का प्रयत्न न किया जाय। इतिहास ठोस सत्य होता है और उपन्यास उपन्यासकार का स्वनिर्मित सत्य। दोनों सत्यों में मौलिक अन्तर तो है ही यह आप भी जानते हैं और मैं भी जानता हूँ।

एम० एल० ए० क्वार्टर,
पटना।
श्रीविजयादशमी स० २०१३

वियोगी

अतीत के चित्र

राजा का सुख

इस कथा का आरम्भ २५०० साल पहले से होता है। उन दिनों भारत का स्वर्ण-युग था। राजगृह राजधानी थी और इतिहास-प्रसिद्ध राजा था अजातशत्रु।

अजातशत्रु ने यौवन की देहली पर खड़े होकर देखा एक ओर अतुल-शक्ति का अम्बार है तो दूसरी ओर विशाल साम्राज्य आकाश की तरह फैला हुआ है। वह नवयुवक था, विचारों में भड़क उठने की शक्ति थी, बाहों में किसी भी चीज को तोड़-मरोड़ डालने का बल था, कण्ठ में आदेश देने की क्षमता थी और भौंहों में बल पैदा करने का ओज था। वह क्रोध कर सकता था, प्रसन्न भी हो सकता था—जो बिगड़ कर किसी को बिगाड़ सके उसी का क्रोध करना सार्थक है, जो प्रसन्न होकर किसी को बना सके उसी का प्रसन्न होना छाजता है। दोनों शक्तियों का निवास अजातशत्रु में था—वह मगध सम्राट् था, मगध उसके चरणों के नीचे था। पुण्यतोय गंगा उसकी इच्छा से बढ़ती-घटती थी, सोना उगलने वाली सोन नदी उसके चरण पखारती थी। अजातशत्रु शरीर से सम्राट् था और हृदय से भी—वह घर बाहर सर्वत्र सम्राट् था—प्रजा के सामने भी सम्राट् था और अपनी भुवन-विमोहिनी कल्पना जैसी रूप-श्री-सम्पन्ना रानी के सामने भी सम्राट् था,

वह अपने पिता के सामने भी सम्राट् था तथा स्नेहमयी जननी के निकट भी सम्राट् था—वह केवल सम्मान चाहता था, केवल आदर चाहता था। स्नेह, अपनापन कैसा होता है इसका ज्ञान उसे न था। वह सोते-जागते हर घड़ी सम्राट् था और सभी उसके लिए थे, वह किसी का कोई न था। वह जीना चाहता था, जिलाना नहीं। जिसे शक्ति की भूख सताती है वह अपने आपको खा कर भी नहीं अघाता।

नवयुवक सम्राट् अपनी एकान्त छत पर चुपचाप बैठा था और राजगृह की पहाड़ियों को आँखों से मानो माप रहा था। शायद वह चाहता था कि इन पहाड़ियों की ऊँचाई को इतना कम कर दिया जाय कि वह जब खड़ा हो तो उसके महामहिमावान्-मस्तक को छिपा न सकें। राजा उस वस्तु के अस्तित्व को चुनौती समझता है जो उसकी महिमा से ऊँची हो। ऊँचे महल की लम्बी-चौड़ी छत पर अजातशत्रु अकेला बैठा था। वसन्त की चाँदनी रात थी, आकाश में चाँद चमक रहा था, चारों ओर से वन-फूलों की भीनी-भीनी महक आ रही थी—पहाड़ियों की ओर से पपीहे की पी-कहाँ, पी-कहाँ पुकार सुन पड़ती थी।

अजातशत्रु उठा और एक बार अपनी मजबूत बाहों की ओर देखकर धीरे-धीरे टहलने लगा। हवा के हल्के झोंके से उसका रेशमी उत्तरीय भरे हुए कन्धों पर से रह-रह कर खिसक जाता था और सिर के सुनहले-घुँघराले बाल उन्नत, चिकने ललाट पर बिखरे पड़ते थे जिन्हें वह अलसित हाथों से सम्भाल लेता था। वह टहलता हुआ लम्बी छत के अन्तिम छोर तक चला गया, उस ओर गहन वन था—पहाड़ियों की दुर्गम घाटी थी और अजेय सेना का शिविर था। अजातशत्रु खड़ा होकर देखने लगा। उसकी माँस-पेशियाँ तन गईं। उस सेना ने राज्य की सीमा को उसी तरह बढ़ाया था जैसे बाढ़ का पानी नदी के तटों को फैला देता है। अजातशत्रु खड़ा होकर देखने लगा, ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर आग जला दी गई है, नीचे शिविरों में भी हलचल सी नजर आती हैं। घोड़ों के हिनहिनाने की आवाज आती है हाथियों के चिंघाड़ने का गम्भीर

घोष सुन पड़ता है। कुछ क्षण एकटक देख लेने के बाद अजातशत्रु मुड़ा और बोला—"गणतंत्र, लिच्छवी गणतंत्र—अच्छा देखा जायगा।"

जैसे वह मुड़ा उसने देखा दूर पर—छत के दूसरे छोर पर एक छाया-मूर्ति देखी जो अजातशत्रु की ओर निःशब्द खिसक रही थी। चांदनी में वह मूर्ति अभ्रक की बनी-सी जान पड़ती थी क्योंकि चांदनी पड़ने से उसमें से चमक-सी पैदा होती थी मानो जुगनुओं की ढेरी हो बसन्त की हवा हौले-हौले आ रही थी और रात का प्रथम प्रहर समाप्त हो चुका था। अजातशत्रु भी आगे बढ़ रहा था और मूर्ति भी आगे बढ़ रही थी—ज्यों-ज्यों मूर्ति निकट आती जाती थी, जगमगाहट बढ़ रही थी।

अजातशत्रु ने धीरे से पूछा—"कौन मगधेश्वरी !" मूर्ति ने जवाब दिया—आर्यपुत्र, मैं प्रेमा हूँ, आपकी "" ! अजातशत्रु के कठोर गम्भीर चेहरे पर मुस्कान की लहर दौड़ कर विलीन हो गई। वह बोला—"मेरी महारानी और कौन ?"

प्रेमा अब निकट चली आई। वह रत्नखचित आभूषणों से अलंकृत थी और उसके अनिंद्य रूप पर चांदनी फिसली-सी पड़ती थी। वह खड़ी होकर बोली—"देवता, कभी तो मुझे प्रेमा कहकर पुकारो। आदर तो सारा मगध साम्राज्य दे रहा है, प्रेम देने वाले तो केवल एक आप ही हैं। महारनी, राज-राजेश्वरी, मगधेश्वरी आदि-आदि विशेषणों को सुनते-सुनते थक गई।"

अजातशत्रु फिर गम्भीर हो गया और बोला—"रानी सम्मान से ऊब जाय राजा शक्ति से ऊब जाय, सिपाही तलवार से ऊब जाय "" यह कैसी प्रतिक्रिया है। महारानी, तुम सदा स्मरण रखो कि तुम महान् मगध की साम्राज्य की राज-राजेश्वरी हो। राज्य को स्थिर रखना हो तो अपनी महिमा को स्थिर रखो।"

प्रेमा ने धीरे से कहा—"नारी-महिमा किसी रानी की महिमा से कम ऊँची नहीं होती आर्यपुत्र !"

अजातशत्रु सोच कर बोला—"राजा केवल शासन की ही महिमा

जानता है महारानी ! मैं राजा हूँ मुझे शासन करने के लिए अधिक से अधिक भू-भाग चाहिये। पूरी धरती फिर ग्रह-नक्षत्र सभी। आकाश से स्वर्ग तक मेरा रथ जाय और मेरी तलवार कभी धरती पर की गंगा मे धोई जाय, तो कभी आकाश-गंगा में, यही मैं दिन-रात सोचता हूँ। दूसरी किसी तरह की भी महिमा का कायल शासक नहीं हो सकता।'

प्रेमा के हृदय पर जैसे किसी ने एक घूँसा कस कर मारा। वह भीतर ही भीतर कराह उठी। उसे ऐसा लगा कि उसके रूप, सौन्दर्य, शृंगार सभी भार बनते जा रहे हैं, उसके शरीर की चमड़ी गायब हो गई, माँस गायब हो गया, बच गया केवल कंकाल, जो न स्त्री है न पुरुष। वह मन मे कल्पना का स्वर्ग बसा कर आई थी, आँखो मे वसन्त भर कर आई थी, प्राणो मे यौवन छिपा कर आई थी, वह अपने 'राजा' के निकट 'रानी' बन कर आई थी, मगधेश्वरी बन कर मगधेश्वर के निकट वह इस ज्योत्स्ना-प्लावित-विभावरी मे क्यों आती, कोई कारण भी न था, प्रयोजन भी न था। उस दिन अजातशत्रु कुछ अनमना-सा था। सूर्यास्त के बाद वह खुली छत पर चला गया। वह एकान्त चाहता था, अकेला रहना चाहता था। जब मानव अकेला रहता है तब वह अपने साथ रहता है—वह भी अपने साथ रहना चाहता था। बहुतों के साथ रहते-रहते वह ऊब उठा हो, ऐसी बात न थी। वह चाहता कि अपने आपको प्राप्त करना, अपने आप से बाते करना, अपने आप से परामर्श करना।

वह एकान्त मे कुछ देर रहा—दो तीन घंटे तक आकाश के नीचे खुली छत पर घूमता रहा किन्तु अपने आपका साथ उसे नसीब न हुआ। हो भी तो कैसे, वह हजार-हजार टुकडो मे बँट गया था—सभी खडो को जोड़ कर सम्पूर्णता को प्राप्त करना उस नवयुवक-सम्राट् के लिए असभव था। फैलाना जितना आसान है समेटना उतना आसान नही है। छत पर घूमता-घूमता अजातशत्रु थक गया किन्तु वह एकान्त का सुख नहीं प्राप्त कर सका। प्रेमा बोली—"आर्यपुत्र, मानव आदि से अन्त

तक मानव है, उसे अपने रूप को भूलना नहीं चाहिये। मानव रह कर ही हम संसार को प्राप्त कर सकते हैं, राजा रह कर तो हम केवल थोड़ी सी मिट्टी का ही संग्रह करते हैं। संसार में बहुत कुछ है देवता, केवल...............!"

अजातशत्रु का स्वर एकाएक बदल गया, वह गम्भीर हो गया और बोला—'महारानी, राजा मानव नहीं हो सकता—वह कुछ भी नहीं है, शासक है। उस का सुख इसी में है कि उमड़ती हुई रक्त-सरिता में अपने सिंहासन की नाव पर बैठा अज्ञात दिशा की ओर चला जाय कहीं रुके नहीं।"

प्रेमा ने साहस बटोर कर पूछा—"क्या राजा सुख नहीं चाहता ?"

"चाहता है"—अजातशत्रु बोला—"किन्तु उसका सुख ज्वालामुखी के पिघले हुए लावा की तरह उद्दीप्त होता है न कि वसन्त की हवा की तरह मन में सिहरन पैदा करने वाला! तुम्हें फूलों की भीनी-भीनी महक प्यारी लगती है किन्तु शासक होने के कारण मुझे तो हवा में लिपटी हुई आने वाली पराजितों की "आह" ही सुख देती है। मैं तुम्हारे फूलों के उद्यान को काट कर घोड़ों के लिये घास की खेती करना पसन्द करूँगा, नगरों को उजाड़ कर सैनिकों को अभ्यास करने के लिये मैदान बनाना चाहूँगा, तुम्हें संगीत और उत्सव प्रिय है और मुझे श्मशान का गम्भीर सन्नाटा सुख देता है। मुझे जीवित मनुष्य से अधिक मनुष्य की लाश पसन्द है क्योंकि लाशों से षड्यन्त्र आदि का खतरा नहीं होता।"

प्रेमा दो कदम पीछे हट गई—अजातशत्रु के विचारों ने मानों उसे धक्के मारकर पीछे हटा दिया। वह पसीने से भीग गई। वह मन ही मन लज्जित भी हुई और उसे ऐसा लगा कि उस के सौन्दर्य और शृंगार का घोर अपमान हुआ है, उस के यौवन और नारीत्व पर किसी ने गन्दा रंग पोत दिया। अजातशत्रु एकाएक मुड़ा और दर्प से पैर पटकता हुआ दूर, बहुत दूर चला गया। वह रुका नहीं और फिर लौटा। प्रेमा ने बहुत

ही उदास स्वर में कहा—"आर्यपुत्र, रात अधिक हो गई, यही निवेदन करने आई थी।"

अजातशत्रु कुछ देर चुप रह कर बोला—"मुझे एकान्त चाहिये, ऐसा एकान्त कि मैं अपनी परिस्थिति का भी बोध न करूँ। महारानी जा सकती हैं।"

प्रेमा प्रणाम करके भारी मन से लौट पड़ी। जब वह आई थी तो वसन्त की हवा उस के मन-प्राणों को गुदगुदा रही थी, चाँदनी उसके यौवन को मादकता से सराबोर कर रही थी, दूर-दूर से आने वाली पपीहे की पुकार उसकी आँखों में सपना भर रही थी, फूलों की महक शराब की बूँदें बन कर उसे आत्म विभोर बना रही थी किन्तु जब वह लौटी तो उसकी दशा कुछ दूसरी ही थी। वह भीतर ही भीतर जल रही थी, उबल रही थी। वह छत के एक एकान्त कोने में खड़ी हो गई और फूलों के गहनों को नोच-नोच कर उसने ऊँचे महल के नीचे फेंक दिया। वह अपने रूप, यौवन और सौन्दर्य को भी नोच-खसोट कर फेंक देना चाहती थी, किन्तु यह संभव न था। भग्न-मनोरथा प्रेमा की साँस तेज हो गई और नाक से गरम हवा निकलने लगी। उसने अपनी कोमल चिकनी हथेलियों से ललाट को रगड़ कर पोंछा—वह गरम था। उसका यत्न से बाँधा हुआ जूड़ा शिथिल हो गया और अंगराग की सारी चारुता मिट गई। उसने हथेलियों से रगड़ कर अंगराग को मिटा दिया और सीढ़ियों से उतरती हुई अपने एकान्त कक्ष में चली गई। सखियों और गायिकाओं में आतंक-सा फैल गया! मगधेश्वरी श्रृङ्गार करके मगधेश्वर को बुलाने गई थी—यहाँ रंगशाला में गायिकायें—नर्तकियाँ वीणा, मृदंग आदि लिये बैठी थीं—राजा के पधारते ही नृत्य-संगीत की तरंगें उठने लगें, ऐसी व्यवस्था थी। रानी अकेली लौटी और सिर झुकाये चुपचाप अपने एकान्त कक्ष में चली गई—यह एक अनहोनी घटना थी। अनुमान के घोड़े दौड़ने लगे सत्य का सही-सही पता लगाने।

रानी ने एकान्त कक्ष में आकर दरवाजों को बन्द कर दिया और

स्वयं शीशे के सामने खड़ी हो गई और बोली—"प्रेमा, अपमानदग्ध प्रेमा, तेरा रूप व्यर्थ है, शृंगार विडम्बना मात्र है। इससे अधिक किसी नारी का क्या अपमान हो सकता है कि उसके रूप का तिरस्कार कर दिया जाय। शासक किसी को कुचल कर ही अपनी महिमा का बोध करता है, किसी का तिरस्कार करके ही अपने को गौरववान् मानता है। आर्यपुत्र शासक हैं, सम्राट् हैं, उन्हें मैं सुखी नहीं कर सकती—राजा का सुख, शासक का सुख ज्वालामय होता है, जिसे दूसरा कोई स्पर्श करे तो झुलस जाय!"

नरक की कामना

गया और राजगृह के बीच के एक गहन वन में उस समय काफी चलल-पहल मच गई, जब ५०० भिक्षुओं का एक कारवाँ वहाँ पहुँच कर रुक गया। वन दुर्गम था तथा छोटी-छोटी पहाड़ियाँ नंग-धड़ंग खड़ी थी जिन पर हरियाली का नाम भी न था। वसन्त के कारण वन के वृक्ष भी पत्र-हीन ही थे, छाया यदि थी भी तो नग्न डालियों की—ऐसी छाया धरती पर "मानचित्र" की तरह थी। हवा गरम थी और कभी-कभी धूल भी उड़ती थी। भिक्षुओं का यह दल चीवर पहने हुए था जिसके चटकदार रंग पर सूर्य की पीली किरणें पड़ कर और भी चमक पैदा करती थी। यह भिक्षुदल एक पहाड़ी सोते के निकट ठहर गया। सूर्य पच्छिम की ओर खिसक गया था और पहाड़ियों की छाया पूरब की ओर फैल गई थी। दूर पर एक गाँव था जो घना था, उस गाँव के स्वस्थ पशु चर रहे थे। अपनी पसन्द के अनुसार स्थान चुन कर छोटे-छोटे युथ मे भिक्षुओं ने अपना डेरा लगाया। जो भिक्षुओं का दलपति था उसने अपने लिए एक घना पीपल का वृक्ष पसन्द किया। वृक्ष पर सैंकड़ो कौवे बैठे थे। पत्थर मार-मार कर भिक्षुओं ने उन निर्दोष पक्षियों को खदेड़ डाला। अब दलपति का आसन डाल दिया गया!

दलपति एक अधेड़ भिक्षु थे जो उन्नत शरीर और विशाल पुष्ट

भुजाओं के कारण किसी सेना के नायक जैसे प्रतीत होते थे। गोरा शरीर और चमकदार आँखों के नीचे गहरी काले रंग की धारियाँ थीं। आसन पर बैठते ही दलपति ने अपनी भारी और गम्भीर आवाज में एक भिक्षु से पूछा—"भोजन का क्या प्रबन्ध हुआ ? आस-पास में कोई गाँव नहीं है क्या ?"

वह भिक्षु हाथ जोड़ कर बोला—"शास्ता, चिन्ता न करें। साथ में चावल, घी, गुड़ सब कुछ है।"

फिर सवाल हुआ—"माँस ?"

उस भिक्षु की जीभ माँस का नाम सुनते ही छटपटाने लगी। वह मुँह की लार घोंट कर बोला—"कुछ बकरे भी हैं। दो हिरण और भेड़ें भी हम साथ ले आये हैं।"

"बकरे कहाँ से आये"—दलपति ने सवाल किया।

भिक्षु बोला—"रास्ते में चरते हुए मिल गए थे।"

"ठीक ही किया"—दलपति ने कहा, "जेतवन के भिक्षुओं ने गाँव वालों को मना कर दिया है कि वे हमारा सम्मान न करें। मैं उन्हें दिखला देना चाहता हूँ कि हम अपने बाहु-बल से क्या नहीं कर सकते। मेरे लिए हिरण का माँस पकवाना, घी अधिक देना और मिर्च-मसाला की कमी भी न होने पावे।"

भिक्षु बोला—"शास्ता जैसा चाहते हैं वैसे ही मैंने प्रबन्ध कर दिया है।"

बाघ की तरह दलपति चिल्ला उठा—"तू भारा कैसे जानता था कि मैं हिरण का माँस खाना चाहता हूँ ? खबरदार जो सर्वज्ञ बनने का स्वाँग रचा।"

वह दुर्बलकाय भिक्षु थरथर काँपने लगा और डर के मारे उसकी घिग्घी बँध गई। दलपति ने अपने स्वर को 'सप्तक' से कुछ नीचे उतार कर कहा—"यह प्रपंच मेरे आगे नहीं चलेगा। वृद्ध सीधा-सादा

आदमी है। ऐसी बातों पर विश्वास कर लेता है। इस संसार में केवल मैं ही त्रिकालदर्शी हूँ—तू कैसे सर्वज्ञ बन सकता है। बोल, उत्तर दे–?"

हाथ जोड़कर भिक्षु बोला—"शास्ता ठीक ही कह रहे हैं।"

आस-पास बैठे हुए भिक्षु चकित होकर यह वार्ता सुनते रहे। दलपति ने फिर गरज कर कहा—"मैंने हिमालय में तपस्या की है। अणिमादिक सिद्धियाँ मेरी दासी हैं—मैं चाहूँ तो पूरे बौद्ध-संघ के साथ बुद्ध को समुद्र के उस पार भेज दे सकता हूँ। यक्षों का राजा कुबेर मेरा सेवक है। नागराज कौण्डिन्य मेरा मित्र है। मैं देव परिषद में जाकर शक्र से भी अपने चरण धुलवा चुका हूँ। संसार में मैं ही ज्येष्ठ हूँ, बुद्ध तो मुझ से भी तीन साल छोटा है—कल का छोकरा है।"

उस प्रवचन का चारों ओर से समर्थन हुआ। यह दलनायक था देवदत्त, जो बुद्धदेव का अस्तित्व समाप्त करने के लिए प्राणपात परिश्रम कर रहा था। जब मन में किसी का अहित करने की आग भड़क उठती तो वह पहले उसी के पुण्य को खाक कर देती है जो उसे अपने भीतर स्थान देता है। पापी तो दो चार बार पाप करके रुक भी जा सकता है किन्तु पापों का चिन्तन करने वाला साँस-साँस पर पाप किया करता है, उसके पापों का अन्त नहीं है।

देवदत्त हर घड़ी बुद्धदेव को समाप्त करने की धुन में पागल जैसा हो गया था। पहले उसने जो आग भड़काई थी वह अब उसी को हर घड़ी झुलसाया करती थी।

एक ओर तो देवदत्त आत्म-स्तुति उसी मुद्रा में बैठ कर कर रहा था जिस मुद्रा में बैठ कर बुद्धदेव भिक्षु-संघ के सामने अपने विचार रखते थे, दूसरी ओर कुछ भिक्षु खसी, भेड़ और हिरण का गला घोंट रहे थे—उनका ऐसा ख्याल था कि अस्त्र से आघात करने पर हिंसा होती है, जो पाप है। रस्सी का फन्दा बनाकर गला घोंट देने से खून बाहर नहीं निकलता, रक्तपात नहीं होता, अतः यह हिंसा नहीं है। यह बात उन्होंने

अपने शास्ता (देवदत्त) से सीख रक्खी थी। पचीसों निर्दोष पशुओं का वध किया गया और बड़ी-बड़ी देगचियों में मांस पकाया जाने लगा। भूखे भिक्षु चूल्हों के आस-पास मँडराने लगे, गाँव के कुत्ते भी हाँफते हुए हड्डियों पर मुह मारने लगे। सारा वन मांस और मसाले की महक से भर गया तब देवदत्त बोला—"भिक्षुओ, मैं आदेश देता हूँ, यात्रा में आधी रात तक तुम भोजन कर सकते हो—कोई दोष नहीं है। जब कहीं रह जाओ तो सूर्यास्त के पहले भोजन करने का मेरा आदेश है। इस आज्ञा को न मानने से नरक की आग में दस हजार वर्ष तक झुलसना पड़ेगा।"

एक भिक्षु ने जो बगल में ही बैठा था शास्ता के इस 'आदेश' को लिख लिया। दूसरे भिक्षु ने एक 'घंटा' उठाया और घूम-घूमकर भिक्षुओं में इसका प्रचार कर दिया। इस नये आदेश से सभी भिक्षु प्रसन्न हो उठे क्योंकि उस दिन आधी रात के पहले भोजन प्राप्त करने की कोई सूरत न थी।

देवदत्त अपनी पूरी ऊँचाई में तन कर बैठा हुआ बोला—"भिक्षुओ, इसी शरीर से हमें स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करना है अतः शरीर की रक्षा पहले होनी चाहिए। भूखा रहना या किसी भी प्रकार से इस शरीर के प्रति उपेक्षा का व्यवहार करना क्षम्य नहीं माना जा सकता। जो व्यक्ति अपने शरीर की रक्षा नहीं करता वह धर्म की रक्षा भी नहीं कर सकता। बुद्ध शरीर को महत्व नहीं देता—यह गलत बात है। मैं ज्येष्ठ हूँ, मेरा आदेश ग्रहण करो।"

इसी समय मांस की महक हवा के साथ आई तो देवदत्त कहने लगा—"हमारे भिक्षु लोक कल्याण के लिए रात-दिन पर्यटन करते हैं, विभिन्न जल-वायु में उन्हें विहार करना पड़ता है।"

चारों ओर से समर्थन हुआ तो देवदत्त ठीक बुद्धदेव की तरह दाहिने हाथ से अभय-मुद्रा का प्रदर्शन करता हुआ स्वर को जरा सा गम्भीर बना कर बोला—"आयुष्मानो, जिस देश में जाओ वहीं का आहार ग्रहण

करो। मैं आदेश देता हूँ आयुष्मानो, किसी देश मे मछली, किसी देश में कुक्कड, किसी देश में गीदड, किसी देश मे ऊँट खाया जाता है—दूसरे लोग पशु-पक्षी भी खाते हैं, सो तुम भी जो मिल जाय ग्रहण कर लेना। न मिले तो अहिंसक रीति से मार कर खाना आयुष्मानो, यह मेरा आदेश है। शरीर को स्वस्थ रखोगे तब ध्यान, एकाग्रता और समाधि लगा सकोगे आयुष्मानो !

एक भिक्षु ने सवाल किया—"शास्ता यह स्पष्ट करने की कृपा करें कि अहिंसक रीति से जीव-वध कैसे किया जायगा। शास्ता साफ-साफ बतला दें।"

देवदत्त दहाड उठा—'मूर्ख हो तुम, अगाध मूर्ख ! रक्त-पात होने से हिंसा होती है यह मेरा आदेश है। बिना खून बहाये किसी की हत्या करना हत्या नही है, शरीर बन्धन से उसे मुक्ति दिलाना है।"

सभी उपस्थित भिक्षु चिल्ला उठे—"चमत्कार चमत्कार ! शास्ता ने चमत्कार करके दिखला दिया।"

देवदत्त बोला—"मैं स्वर्ग नही, नरक जाना चाहता हूँ। वहाँ जाकर नरक के पापियो का उद्धार करना है जो गौतम की बातों में फँसकर वहाँ दुःख भोग रहे हैं। स्वर्ग जाना आसान है। वासव, वरुण, कुबेर सभी मेरे पास आये क्योकि मैं उनसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भी हूँ। वे हाथ जोड कर कहने लगे कि—"शास्ता, आप नरक न जायें। वहाँ के पापी क्षण भर भी नही रह सकेंगे, सभी स्वर्ग चले जायेंगे।"

आयुष्मानो, वासव भयभीत है, वरुण भयभीत है, कुबेर भयभीत है। मैं इनकी प्रार्थना को ठुकरा चुका हूँ। मुझे नरक जाना है, मैं पापियों को उद्धार करने धरती पर आया हूँ। सच्चा बुद्ध तो मैं हूँ आयुष्मानो, गौतम तो प्रच्छन्न बुद्ध है।

अस्सी करोड़ वर्षों के बाद मैं प्रथम बुद्ध धरती पर आया हूँ, यह याद रक्खो आयुष्मानो !"

इतना बोल कर देवदत्त ध्यानस्थ हो गया। सभी भिक्षु हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। देवदत्त का प्रधान शिष्य गड्डरी उसके चरणों पर औंधा पड़ गया। एक घंटे के बाद देवदत्त ने आँखें खोलीं और कहा—"महादेव यक्ष जो पहले गौतम के साथ रहता था, दस करोड़ यक्षों के साथ मेरी शरण में आ गया।"

सभी प्रसन्न होकर मुस्कराने लगे। महादेव यक्ष अत्यन्त बलशाली यक्ष था जिसकी आज्ञा में दस करोड़ यक्ष रहते थे। वह राजगृह की पहाड़ियों में रहता था।

अब भोजन का समय हो गया। भूख के मारे भिक्षु बिलबला रहे थे। देवदत्त ने उन्हें उलझा रक्खा था। वे मन ही मन देवदत्त को कोस रहे थे मगर उठ कर जाने की हिम्मत न थी। देवदत्त भी भूख से कातर हो रहा था। थोड़ी देर के बाद शंख बजा कर रसोई बनाने वालों ने रसोई बन जाने की सूचना दी। शास्ता ने आदेश दिया। भूखे भिक्षु एक दूसरे को ठेलते-धकेलते उस ओर भागे जिधर भोजन बन रहा था। भगदड़ मच गई।

भोर को फिर यह काफिला राजगृह की ओर चला। खेतों, मैदानों में चरने वाली भेड़ों और बकरियों को भिक्षुओं ने अपने साथ हाँक लिया। विरोध करने वालों को उन्होंने पीटा भी। डर के मारे गाँव के धर्मभीरू निवासी चुप लगा गये—पचासों भेड़-बकरियों को हाँकते हुए भिक्षुओं का यह कारवाँ आगे बढ़ा। सबसे आगे 'शिविका' (पालकी) पर देवदत्त था जिसे आठ बलवान भिक्षु श्रद्धापूर्वक ढो रहे थे। संध्या समय फिर यह दल ठहरा और खा-पका कर भोर को चल पड़ा। अब राजगृह की पहाड़ियाँ नजर आने लगी थीं तो देवदत्त ने कहा—"हम यहीं ठहरेंगे और एक योजन पर अजातशत्रु का दुर्ग है, उसे अपने आने की सूचना भिजवा देंगे—राजा को हम स्वागत-सत्कार करने का अवसर नहीं देंगे तो इसमें हमारा ही दोष है। धर्मसेनाध्यक्ष कुर्मायन कहाँ है?"

एक भिक्षु जिसकी आँखें शैतान की तरह चमकती थी उठ खड़ा हुआ। देवदत्त शान्ति-मुद्रा का प्रदर्शन करता हुआ बोला—"भिक्षुओ, देखो तुम्हारा अग्रज कुर्मायन खड़ा है। यह देवलोक का एक महातेजस्वी देवता था जिसे देव-ब्रह्मा ने धरती पर धर्मसेना की अध्यक्षता करने के लिये भेजा। इसका प्रभापूर्ण मुखमंडल देखो। भिक्षुओ, अपने अग्रज आयुष्मान महास्थविराचार्य कुर्मायन को। यह अर्हत है, मुक्त है, जीवन्मुक्त है, परमशीलवान् है। इसे मैं आदेश देता हूँ कि यह मेरे सेवक और संघ के रक्षक मगध सम्राट अजातशत्रु से जाकर कहे कि शास्ता भिक्षु संघ के साथ तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण करेंगे। स्वागत् की व्यवस्था करो। आयुष्मान् कुर्मायन, तुम एक सौ श्रेष्ठ भिक्षुओं के साथ जाओ। देखो, भिक्षुओं में हीन आकार-प्रकार और हीन-वर्ण कोई न हो। कोई पेटू और कुरूप-रोगी भिक्षु न हो। शीघ्र यात्रा करो आयुष्मान्, मेरा यही संदेश है।"

कुर्मायन एक मोटा, नाटा और काले रंग का भिक्षु था जिसे बुद्धदेव के भिक्षु-संघ ने निकाल दिया था। उसने अपने वृद्ध पिता को विष देकर मार डाला था और अपने को छिपाने के लिये भिक्षु-संघ में या यों कहिये कि भिक्षुओं के जगल में घुस गया। पाप चुप नहीं रहता, वह चिल्लाता है तो धरती से आकाश तक हड़कम्प मच जाता है। कुर्मायन का पाप भी चीख उठा और भिक्षु-संघ ने उसे कान पकड़ कर खदेड़ दिया। बुद्धदेव के कटु आलोचकों को अपने चारों ओर जमा करने में देवदत्त अपनी योजना का ही एक अंग समझता था—कुर्मायन ही क्यों बहुत से तिरस्कृत कर्महीनों का एक दल उसने जुटा लिया जिसमें सभी तरह के गये गुजरे भिक्षु थे, चोर-लफंगे गुंडे, उद्धत, खूनी, आवारा सभी तरह और तर्ज के।

कुर्मायन धर्म-सेना का सेनापति माना जाता था। बुद्धदेव के संघ में आनन्द धर्म-सेना के सेनापति थे और देवदत्त के संघ में महा-स्थविराचार्य कुर्मायन इस पद को अलकृत कर रहे थे। कुर्मायन देवदत्त

की प्रदक्षिणा करके अपने आसन पर लौटा और झल्ला कर बोला—"मैं किसी का नौकर हूँ क्या ? एक योजन पैदल टाँगें घसीटता हुआ जाना मेरे लिये असंभव है।"

इसके बाद उसने आदेश दिया कि गाँव के किसी मुखिया को राजी करके उससे एकाध घोड़ा लिया जाय। दूसरे दिन घोड़ा मिल गया। चीवरधारी भिक्षुओं को देख कर स्वभाव से जनता आदेश पालन करने के लिये प्रस्तुत हो जाती थी। उसे पता न था कि कौन सिंह है और कौन सिंह की खाल ओढ़े पशु-विशेष !

चलते समय देवदत्त ने कुर्मायन को एकान्त में बुला कर समझा दिया कि वह राजगृह में जाकर यह पता लगाए कि बुद्धदेव कहाँ हैं तथा राजा बिम्बसार का क्या रवैया है। वह यह भी पता लगाए कि नवयुवक सम्राट् अजातशत्रु पर किसका प्रभाव है। देवदत्त ने यह भी जानने की इच्छा प्रकट की कि अजातशत्रु के अमात्यों में ऐसे कितने हैं जो राजा या बुद्धदेव से मन ही मन असन्तुष्ट हैं। बिम्बसार का जनता पर अब वैसा प्रभाव है या नहीं, यह विशेषरूप से देवदत्त जानना चाहता था। कुर्मायन ने सारी बातें समझ लीं और घोड़े पर चढ़ कर बड़ी शान से राजगृह की ओर चल पड़ा।



अपमान का समर्थन

नवयुवक अजातशत्रु उसी तरह विफल-क्रोध से छटपटा कर पागल जैसा हो गया जैसे अंधेरी रात में सोये हुए सिंह के शरीर में किसी ओर से सनसनाता हुआ एक बाण आकर घुस जाय ! वह दहाड़ उठेगा और रोष तथा पीड़ा से व्यग्र होकर अपना ही मुंह नोच लेगा। वह बाण मारने वाले को किसी ओर भी नहीं देखता, शत्रुता का बदला लेना उस भी स्वभावजात गुण है किन्तु कहीं तो कोई नजर नहीं आता। यही दशा हुई बलशाली मगध सम्राट् की जब उसके सामने 'भग्नदूत' आया !

अजातशत्रु जैसे ही सोकर उठा द्वाररक्षक ने एक आहत व्यक्ति के आने का सम्वाद दिया जो मगध-सेना का एक नायक था। अजातशत्रु ने उस आहत-नायक को बुलाया। वह नायक 'भग्नदूत' बन कर अपने सम्राट् की सेवा में आया था अपमानजनक पराजय का खेद-पूर्ण सम्वाद देने।

नायक का शरीर अस्त्र के प्रहारों से क्षत-विक्षत था। कपड़े खून से रंगे हुए थे तथा कमर में खाली म्यान लटक रही थी, तलवार न थी, पीठ पर तूणीर था जिसमें एक भी बाण न था। हाथ में धन्वा थी जिसके सहारे वह किसी न किसी तरह चल रहा था। आँखों में क्रोध की लाली थी और अपमान के आँसू भी थे। उसकी साँस जोर-जोर से चल रही

थी। दो सैनिक सहारा देकर उसे सम्राट् के सामने ले आये। महल की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ वह मूच्छित हो जाता था और जख्मों से खून बहने लगता था। वह एक प्रौढ़ योद्धा था जिसका सारा जीवन तलवारों से खेलने में बीता था, युद्ध के मैदान में बीता था, मुर्दों और आहतों में बीता था। वह केवल आदेश देना जानता था, आगे बढ़ना जानता था और गाँवों तथा नगरों को उजाड़ना जानता था। वह केवल विजय को ही पहचानता था, लक्ष्य को प्राप्त करना मात्र जानता था। वह नहीं जानता था कि धर्म क्या है, देवता कैसे होते हैं, दया कैसी होती है, क्षमा और प्रेम किसे कहते हैं। वह मगध सेना का सिंह सेनापति था। वह मौत का व्यापारी था—जीवन का खिलौना न था किन्तु उस दिन पराजय का संवादवाहक बनकर वह आया, भग्न-दूत बनकर अपने तेजस्वी सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ। यदि भाग्य है तो उसका यह भी एक खेल था, यदि दैव है तो उसका यह भी एक रूप था, यदि होनहार है तो उसकी यह भी एक झलक थी।

आहत सेनानायक ने सैनिक-विधि से सम्राट् का अभिवादन किया। पगड़ी (उष्णीस) में स्पर्श कराने के लिए उसके पास तलवार न थी, जो सैनिक उसे सहारा देकर ले आये थे, उनमें से एक ने अपनी तलवार उसे पकड़ा दी। आहत, काँपते हुए शक्तिहीन दाहिने हाथ में तलवार पकड़ते ही उस नायक में शक्ति की एक जोरदार लहर दौड़ गई। उसने सम्राट् का अभिवादन पगड़ी से तलवार स्पर्श करा कर किया। सर्वत्र सन्नाटा था, हवा भी रुक गई थी तथा प्रकृति जैसे साँस रोक कर देख रही थी। अजातशत्रु पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ा था किन्तु उसका चेहरा रोष से जल रहा था, नथने फूल रहे थे, छाती तन गई थी। हाथों की मुट्ठियाँ बाँधे अजातशत्रु खड़ा-खड़ा दाँत पीस रहा था। उसने किसी तरह अपने को सम्भाल कर पूछा—"सेनानायक, मैं क्या देख रहा हूँ?"

आहत सेनानायक कहने लगा—"प्रभो, मैं पराजय का सम्वाद ले कर आया हूँ। कितने राजाओं को बन्दी बना कर आपके चरणों में

उपस्थित किया, कितने देशों की ध्वजाओं को लाकर आपके चरणों के सामने रखा किन्तु आज महान मगध साम्राज्य की ध्वजा को शत्रुओं के हाथों में सौंप कर आया हूँ।"

अजातशत्रु टहलने लगा। उसके पैर डगमगा रहे थे। दूर-दूर पर जो प्रहरी, अंगरक्षक खड़े थे वे भयभीत होकर भीतर ही भीतर सिहर रहे थे। सभी साँस रोक कर भविष्य की ओर देख रहे थे। अजातशत्रु टहलता-टहलता एकाएक रुक गया और गम्भीर स्वर में बोला—"अपमान! सेनानायक!!"

सेनानायक ने सिर झुका लिया—वह काँप रहा था, उसका शरीर अब साथ देने को राजी न था या साथ देने की स्थिति में न था। उस की आँखें झपक जाती थीं, चेतना का तार टूट जाता था किन्तु एक अनुशासनबद्ध सैनिक होने के कारण उसने अपने को सम्भाल रखा था।

अजातशत्रु फिर गुर्राया—"वैशाली वालों का यह साहस! ईंट से ईंट लड़ा दूँगा उस मुट्ठी भर गणतन्त्र राज्य की। यह तीसरी बार हमारी सेना को अपमान का मुँह देखना पड़ा—अपमान सह लेने वाला राजा कुत्तों की मौत मरता है। सेनानायक!

सेनानायक सारी शक्ति को अपने कण्ठ में समेट कर बोला—"प्रभो, क्या आदेश है?"

इतना बोल कर अभ्यासवश पूरी ऊँचाई में तन जाने का उसने प्रयास किया किन्तु दर्द से कराह उठा और जख्म खून उगलने लगे।

अजातशत्रु पैर पटक कर बोला—"गणतन्त्र क्या है, लुटेरों का एक संगठित गिरोह है जो सब मिल कर लूटपाट मचाते हैं और आपस में बाँट लेते हैं। क्या मगध साम्राज्य लुटेरों के सामने घुटने टेक दे? नहीं, कभी नहीं! वैशाली वाले डाकू हैं, पापी हैं—न उनके कोई राजा है और न शासन! सभी राजा हैं, सभी प्रजा हैं। ठीक है—मैं रौंद कर उन्हें ठीक कर दूँगा सेनानायक!"

. आहत नायक का सिर चकरा रहा था। वह रुँधे हुए कण्ठ से बोला—"प्रभो !"

अजातशत्रु बिना एक शब्द बोले पैर पटकता हुए महल की सीढ़ियों पर चढ़ता चला गया। उसने लौट कर देखा भी नहीं कि उसका सेनानायक जख्मों से निकलने वाले खून से भीगा हुआ खड़ा है, दो सैनिकों ने उसे सँभाल रखा है। अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच कर अजातशत्रु रुका और कुछ सोच कर लौट पड़ा। वह वहीं से गुर्रा कर बोला —"सेनानायक, तुम जा सकते हो।

सेनानायक के कानों के भीतर सागर का हाहाकार गूँज रहा था और आँखों के आगे तारे झूल रहे थे, आग के गोले तैर रहे थे। वह अजातशत्रु के जाते ही मूर्च्छित हो गया—उसके भीतर जो जीवन का उत्ताप था वह शून्य में विलीन हो गया। संगमर्मर की चमकदार चिकने फर्श पर उसके शरीर से निकलने वाला खून फैल गया। उसने आँखें बन्द कर ली, पराजय के भयानक चित्र को पलकों के भीतर छिपाये। वे आँखें फिर नहीं खुली। युद्ध से लौटने वाला वह अकेला सिपाही था, सभी कट मरे थे। उसके सो जाने के बाद कोई भी पराजय का प्रत्यक्षदर्शी नहीं रह गया, अपमान की कहानी कहने वाला कोई भी नहीं रह गया, अजातशत्रु की हार का साक्षी कोई भी नहीं रह गया।

अजातशत्रु सर्प की तरह, विषधर की तरह फुफकार करता हुआ अपने पिता बिम्बसार के निकट गया जो अपने पालतू मयूरों से मन बहला रहे थे। उनकी सबसे छोटी रानी परम रूपवती और स्वर्गविता क्षेमा बैठी वीणा बजा रही थी। वीणा की स्वर लहरी गंगा की कल-कल ध्वनि की तरह गूँजती हुई वातावरण में क्षोभ उत्पन्न कर रही थी। अजातशत्रु झुँझला उठा और उसने दोनों कान बन्द करके अपने को सँभालने का प्रयत्न किया किन्तु विफल रहा। वह दाँत पीसता हुआ क्रोध के आवेश में बड़बड़ाया —' छि ! बूढ़े को रंग-रलियाँ सूझी हैं और इधर मगध का साम्राज्य का गौरव लुप्त हुआ चाहता है।"

वह रुका और फिर पैर पटकता हुआ आगे बढ़ा। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता था वीणा की झंकार अधिक स्पष्टता पूर्वक उसके कानों में प्रवेश करके उसके रोष को भड़काती थी। घृणा से अजातशत्रु का चेहरा भयानक हो गया और वह तेजी से आगे बढ़ा। लम्बे बरामदे को पार करके वह रुका। उसका उत्तरीय धरती को स्पर्श कर रहा था और हवा से उसके सिर के घुंघराले बाल कन्धों पर लहरा रहे थे। शीतल हवा के स्पर्श से उस उत्तप्त ललाट को कुछ शान्ति मिली। उसने एक बार बाहर की ओर देखा, राजगृह की शान्त पहाड़ियों पर सूर्य की कोमल किरणें सोना बरसा रही थी और पहाड़ियों की हरित शोभा मरकत मणि की तरह चमकती हुई बहुत ही भली लगती थी। अजातशत्रु का मन क्षण भर के लिये प्रकृति की इस रंगशाला मे उलझ गया। उसने अपनी इस कमजोरी को झटका देकर दूर कर दिया, वह आगे बढ़ा। बरामदा जन-शून्य था। अब वह उस प्रकोष्ठ के विशाल दरवाजे पर पहुँच गया जिस पर मोतियों की झालरें लटक रही थी और एक भरे अंगों वाली श्यामवर्ण की सुन्दरी दासी कोमल हाथों में ढाल-तलवार लिए खड़ी थी। वीणा की झंकार अजातशत्रु के कानों मे बाण की तरह सनसनाती हुई घुस रही थी। अभिवादन करके वह द्वार-रक्षिका एक ओर हट गई। झालर को बिना हटाये, शरीर को आगे की ओर धकेलता हुआ अजातशत्रु भीतर घुसा। वीणा की स्वर लहरी अचानक शून्य मे विलीन हो गई। जो वातारण क्षण भर पहले आनन्द की रंगीनियो से जगमगा रहा था वह हठात् आतंक के कुहरे से धूमिल हो गया या गरम भाप से भर गया।

बिम्बसार का यौवन चला गया था किन्तु नाना उपायो से उन्होंने उसे रोक रखा था। बालो मे खिजाब[1] और कानों मे रत्न-खचित कुण्डल—बिम्बसार दूल्हे की तरह शृंगार करके बैठे थे। अचंचल-

१. बौद्ध युग में खिजाब लगाने की प्रथा थी। देखिये—शम्बजातक ३४४

यौवना रानी क्षेमा बिम्बसार के सामने बैठी वीणावादन कर रही थी। पालतू मयूर इधर-उधर बैठे थे। अजातशत्रु ने जैसे ही घर में प्रवेश किया शान्त मयूर चकित होकर उसकी ओर देखने लगे। परिस्थिति की स्पष्ट झलक शायद अबोध पशु-पक्षियों को तुरन्त मिल जाती है। अपने पिता को देख कर अजातशत्रु की भौंहें तन गईं। उसने देख कर भी क्षेमा को नहीं देखा। स्नेह भरे स्वर से कुशल क्षेम पूछ कर बिम्बसार ने अपने सम्राट्-पुत्र की बांह पकड़ कर अपने निकट बैठाया। उद्धत अजातशत्रु ने पिता के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया। बिम्बसार मन ही मन डर गये। वे अजातशत्रु के उग्र स्वभाव से परिचित थे। क्षेमा ने भय-मिश्रित स्वर में पूछा—"आयुष्मान् का किधर आना हुआ ?" अजातशत्रु होंठ चबा कर बोला—"वीणा बजाने में जो मेरे कारण विघ्न हुआ उस के लिए क्षमा कीजिएगा।" क्षेमा का हृदय धक् से करके रह गया। बिम्बसार का कंठ सूखने लगा। मयूर एक-एक करके घर के बाहर निकल गये। बिम्बसार ने धीरे से कहा—"आयुष्मान्, हम उत्सुक हैं यह जानने को कि……………………।"

अपनी चट्टान जैसी जाँघ पर हाथ पटक कर अजातशत्रु बोला—"क्या उत्सुक हैं आप ? आप को मालूम है वैशाली वालों ने हमारी सेना का सफाया कर दिया ? आप जानते हैं, गंगा में हमारे सैनिकों की लाशें तैर रही हैं ? आप जानते हैं आज मगध-साम्राज्य का गौरव धूल में मिल गया ? हम किस मुँह से जनता को कहेंगे कि हम तुम्हारे रक्षक और त्राता हैं।"

अजातशत्रु एकाएक उत्तेजित होकर चिल्ला उठा—"आप सो रहे हैं क्या ?"

बिम्बसार चौंक उठे और बोले—"शान्ति ! आयुष्मान्, मन को स्वस्थ करो।"

अजातशत्रु गरजा—"मन को स्वस्थ करूँ ? आप क्या कहते हैं ? यह शान्ति की प्राणहीन बातें आप बौद्धों से सीख आये हैं।"

अजातशत्रु क्रोध से उबल रहा था। बिम्बसार ने शान्त स्वर में कहा—"शान्ति अच्छी चीज है। मैंने बार-बार मना किया था कि वैशाली पर आक्रमण मत करो। वह एक स्वतन्त्र भू-भाग है। वहाँ का प्रत्येक नागरिक राजा है। वहाँ का प्रत्येक जीवित-मानव अपने प्राण देने को तैयार रहता है अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए। वहाँ कोई आदेश देने वाला नहीं है—सभी अपने कर्तव्याकर्तव्य को समझ कर अपने भविष्य के लिए स्वय निर्णय करते हैं। वहाँ कोई दास नही है, गुलाम नहीं है, शोषित और कातर नही है—ऐसे देश से लोहा बजाना वेतनभोगी सैनिकों के भरोसे असम्भव है आयुष्मान् !"

अजातशत्रु क्रोध से पागल होकर बोला—"आप बराबर उन लुटेरों की प्रशसा करते हैं, इसी लिए शुभ-सवाद देने आया हूँ।"

वह क्षेमा की ओर मुड़ा और तीखे स्वर में बोला—"खूब वीणा बजाइये और उत्सव भी मनाया जाय। मगध हार गया और आपके आर्य-पुत्र के प्रियपात्र विजयी हुए।"

क्षेमा गोद से वीणा को नीचे खिसकाती हुई सिर झुका कर बैठी रही। वह थर-थर कांप रही थी और मन ही मन देवता से प्रार्थना कर रही थी।

बिम्बसार धीरे-धीरे बोलने लगे—"आयुष्मान्, रानी का इस में क्या दोष है, जो कुछ कहना हो मुझे कहो।"

अजातशत्रु बोला—"क्या कहूँ आप से ! आप बार-बार मुझे हतोत्साह करते रहे। वैशाली वाले मुझे जितना नीचा दिखलाते हैं आप उनके गुणों का कीर्तन करते हैं।" बिम्बसार ने कहा—"ऐसी बात नही है। मैं जानता हूँ कि गण-तंत्र कितना शक्तिशाली शासन-यंत्र होता है। सजग जनता, जागरूक जन-मत से पार पाना आसान नही है। मैं जानता हूँ वही बार-बार कहता हूँ। सच्ची बात छिपाना झूठी बात बोलने से भी घृणित पाप है।"

अजातशत्रु गुर्रा कर उठ खड़ा हुआ और चिल्लाया—"पाप पुण्य

को व्याख्या सुनने मैं नहीं आया था। मुझे पता है कि मेरे विरोध में कोई षड्यन्त्र हो रहा है जिसका संचालन आप करते हैं।"

बिम्बसार स्र्वांस से होकर बोले—"मैं ···मैं ··· आह! राजद्रोही हूँ, कल तक मैं राजा था और आज राजा का द्रोही बन गया? राजा का पिता आपने पुत्र-राजा को नष्ट करने के लिए षड्यन्त्र करे!"

अजातशत्रु उद्धत स्वर में बोला—"मुझे सब कुछ ज्ञात है। आप को शर्म नहीं आती? आप जानते हैं, राजा के वैरी के लिए कैसा दण्ड-विधान है?"

बिम्बसार ने दुख और मिथ्या लांछन के आघात से अधीर होकर सिर झुका दिया और कहा—"जानता हूँ, काट लो मेरा सिर!"

बिजली की तरह तड़प कर अजातशत्रु ने तलवार खींच ली। क्षण-भर के लिए क्षेमा हतचेत हो गई किन्तु फिर किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से उछली और बीच में खड़ी होकर बोली—"रुको मत! तलवार उठाई है तो वार करो। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।"

कोढ़ में खाज

सूर्योदय होते ही राजगृह के निवासियों ने यह सम्वाद सुना कि महायोगीराज, भिक्षु संघ के साथ पधार रहे हैं। यह महायोगीराज थे देवदत्त। एक हलचल फैल गई। सभी एक दूसरे का मुंह देखने लगे क्योंकि राजगृह का बच्चा-बच्चा जानता था कि यह देवदत्त कौन है, क्या है। अजातशत्रु की ओर से स्वागत की तैयारी हुई। नगर की सजावट की गई। नगर-द्वारों पर तोरण बनाये गये, मंगल-घट रक्खे गये, मंगल-वाद्य बजने लगे। राजा का आदेश था कि स्वागत-सत्कार में किसी तरह की त्रुटि नहीं होनी चाहिये। जनता तो उत्सवप्रिय होती है, हलचल-प्रिय होती है। उसे दो घड़ी मन बहलाने के लिए कुछ तूल-तूफान चाहिये। राज-मार्ग की दुकानें खूब अलंकृत की गईं, यहाँ तक कि मेघवर्ण की पानशाला भी बहुत ही यत्न से बनाई-सँवारी गई तथा नगर-नर्तकियों ने भी अपने-अपने छज्जों और गवाक्षों को फूलों से सुशोभित किया। मेघवर्ण एक प्रसिद्ध मद्य-विक्रेता था, उसने उस दिन आधी कौशल लेकर अपनी रही शराब के शताधिक पात्र बेच डाले और आधे नगर को नशे में पागल बना दिया। महामात्य वर्षकार स्वयं रथ पर बैठ कर नगर की सजावट देखने निकले। दोपहर को दक्षिण द्वार पर परिषद के सदस्य नगर के श्रेष्ठ पुरुष जमा होने लगे। इसी द्वार से देवदत्त को

नगर में अपने ५०० भिक्षुओं के साथ प्रवेश करता था। राज्य के उच्चाधिकारी और नगर-कल्याणी आदित्या के साथ बहुत से रसिक जन भी उस द्वार पर जमा हुए। रत्नो और रंगबिरंगे वस्त्रो की जगमगाहट आँखों को चौंधियाती थी। सेना की एक चुनी हुई टुकडी के साथ प्रधान-सेनाध्यक्ष भी उपस्थित थे। ठीक समय पर देवदत्त अपने भिक्षुओं के साथ पधारे, उस के साथ कुर्मायन भी था जो बड़ी शान से चल रहा था। शंख-दुंदुभी-नगाड़े आदि के तुमुल घोष से योगीराज का स्वागत किया गया। राजा के मंगल-गज पर देवदत्त बैठा था तथा उस की बगल में था कुर्मायन। पचासों हाथियों पर भिक्षु बैठे थे—हाथियों का एक लम्बा जलूस था जो नगर की प्रधान सडकों से होता हुआ अजातशत्रु के प्रासाद में जा कर समाप्त हुआ। सिंह-पौर पर अजातशत्रु ने अपनी मन्त्रिपरिषद के साथ देवदत्त का स्वागत किया। बिम्बसार कहीं नजर नहीं आये। वे सिर दर्द का बहाना करके महल से बाहर ही नहीं निकले। देवदत्त की साँप जैसी तेज आँखों से बिम्बसार का अभाव छिपा न रहा। उस ने हुँकार करके कुर्मायन की ओर ताका और फुसफुसा कर कहा—"बूढा बैल नजर नहीं आता।"

कुर्मायन बोला—"जेतवन गया होगा, जहाँ उसके शास्ता विहार कर रहे हैं।"

देवदत्त बड़बड़ाया—"जेतवन और शास्ता ! अगर जेतवन में मैंने गधे का हल नहीं चलवा दिया तो मेरा नाम देवदत्त नहीं।"

इस प्रतिज्ञा का समर्थन कुर्मायन ने किया और उसने इस में इतना जोड़ दिया कि—"उस हल में बैल की जगह बिम्बसार और अजातशत्रु को हम जोतेंगे।"

इस संशोधन को उत्साहपूर्वक देवदत्त ने स्वीकार कर लिया। अब यह जलूस अपने मुकाम पर पहुँच गया। अजातशत्रु ने सब का स्वागत किया तथा राज्य की अतिथिशाला में देवदत्त को ठहरा दिया गया जहाँ देवदत्त के लिए सोने की पलंग-बिछी थी और सभी भिक्षुओं के लिए

चाँदी की पलंगों का इन्तजाम था। भोजन के लिए तरह-तरह के पशु-पंछियों के मांस और दूध, घी, फल तथा अन्न का अम्बार लगा था। सौ से ऊपर कुशल पाचक रंधन कार्य में लगे हुए थे यह स्पष्ट था कि देवदत्त का स्वागत किसी धर्माध्यक्ष या संत की तरह नहीं किया बल्कि उसे 'राजा' का सम्मान मिला। भिक्षु भी चाँदी के थालों में 'राज-भोग' खाते रहे—सेवकों और दासों का दल उनकी सेवा में तल्लीन था। एक मंत्री सेवा-सत्कार की देखभाल करने के लिए नियुक्त कर दिया गया था।

क्षेमा ने बिम्बसार से पूछा—"देवदत्त का इतना सम्मान? समझ में नहीं आता बात क्या है।"

बिम्बसार ने जवाब दिया—"अजातशत्रु अभी नवयुवक है। उसका एक ही दृष्टिकोण है और वह है 'राजा' का। एक गृहत्यागी संत या भिक्षु भी सम्मान का पात्र हो सकता है, इसका ज्ञान उसे नहीं है। और न वह यही जानता है कि राजा के स्वागत-सत्कार करने की जो विधियाँ हैं वे संतों के संस्कार करने की विधियों से अलग प्रकार की हैं। दूसरी बात यह है कि देवदत्त को 'राज-वंश' का जान कर ही अजातशत्रु सम्मान का अधिकारी मानता है—संत या गृहत्यागी जान कर नहीं।"

क्षेमा कुछ भी नहीं समझ सकी। वह तर्क करना या दिमाग भिड़ाना भी पसन्द नहीं करती थी। स्त्री होने के कारण जितनी बारीकियाँ उसे प्रकृति ने दी थी उसका काम उन्हीं बारीकियों से चल जाता था। क्षेमा सोच कर बोली—"महाराज, मैं तो इस समारोह के फूलों के भीतर छिप कर बैठे हुए नाग को देखती हूँ।"

चौंक कर बिम्बसार ने पूछा—"सो कैसे देवी?"

"सो कैसे"—क्षेमा कहने लगी—"जब कोई किसी पर एकाएक अधिक स्नेह या श्रद्धा उँड़ेलने लग जाता है तो इसे मैं बुरा ही मानती हूँ। अजातशत्रु केवल राजा मात्र है, वह न तो धर्मप्राण है और न

मनुष्य। ऐसे व्यक्ति के विचारों का क्षेत्र सीमित होता है। क्या मैं गलत बात कह रही हूं ?"

बिम्बसार उदास होकर बोले—"नहीं देवी, आप ठीक ही कह रही हैं।"

बिम्बसार के सामने उस दिन की तस्वीर नाच उठी जिस दिन अजातशत्रु उनकी हत्या करने के लिए तैयार हो गया था मगर क्षेमा ने अपनी गर्दन पर तलवार का वार सहने का जब साहस किया तब उसके प्राण बचे। अजातशत्रु ने क्षेमा पर भी क्या दिखलाना नहीं चाहा किन्तु जाने किस शक्ति ने उसे रोक दिया। बिम्बसार को उस दिन विश्वास हो गया कि निश्चय ही उनका पुत्र केवल राजा मात्र है—वह मानव नहीं है, बिल्कुल नहीं है। क्षेमा फिर बोली—"आर्यपुत्र, अजातशत्रु को मानव स्वीकार करना अपने आप को धोखा देना है। जिसने धरती और धन को ही पहचाना वह तो जीवित पिशाच है।"

बिम्बसार घबरा कर बोले—देवी, ऐसा न कहो। अजातशत्रु हमारा पुत्र है और राजा भी है। न तो पुत्र की निन्दा सुन सकता हूँ और न राजा की। अजातशत्रु अभी नवयुवक है देवी, ग्रन्थज्ञान से राजा का काम नहीं चलता, उसे अनुभव-ज्ञान होना चाहिये और अनुभव प्राप्त करना एक दिन की तपस्या नहीं है। जब दिल और दिमाग को सन्तुलन में और सजग रख कर संसार के एक-एक पहलू पर ज्ञानपूर्वक दृष्टि डाली जाती है तब अनुभव का प्रकाश भीतर फैलता है। अभी अजातशत्रु कल का छोकरा है। हम प्रतीक्षा करें और आशीर्वाद दें।"

क्षेमा झुंझला कर कहने लगी—"सत्य को मूलरूप में स्वीकार न करना भारी आत्म-वंचना है महाराज। ऐसा व्यक्ति अपने को जानबूझ कर संकट में फंसा कर नष्ट कर देता है।"

बिम्बसार ने कोई जवाब नहीं दिया—वे एक तकिया खींचकर लेट गये और क्षेमा कोने में पड़ी हुई वीणा की ओर आंखों में आंसू भर कर

देखने लगी जिसे उसने महीनों से स्पर्श नहीं किया था। वीणा पर दृष्टि पड़ते ही उस दिन का अपमानजनक और भयावना दृश्य उसकी आंखो के सामने सजीव हो उठा जिस दिन अजातशत्रु ने अपने पिता का सिर काटना चाहा था। दिन से सप्ताह और सप्ताह मास के रूप में बदल चुके थे किन्तु उस प्रज्वलित घटना की गर्मी मिटी नहीं थी—वही प्रकोष्ठ था, समय भी वही था और शायद उसका भाग्य भी वही था—बिम्बसार और क्षेमा का।

बिम्बसार कुछ देर तक आँखें बन्द किये रहे और फिर कराह कर बोले— 'देवी, सामने की खिड़की खोल दो। शास्ता 'कुक्कुटपाद गिरि' पर विहार कर रहे हैं, मैं उस पुण्यवान पहाड़ी को देखना चाहता हूँ। हाय, कैसा उत्तम होता यदि मैं मगध सम्राट् न होकर कुक्कुटपादगिरि' ही होता।'

बिम्बसार का मन पछी शीतल छाँव खोज रहा था। शास्ता—बुद्धदेव—के चरणो के अतिरिक्त वह स्थान इस भुवनमंडल मे कहाँ था जहाँ उसे दो क्षण टिक कर शान्ति लाभ करने का पुण्य प्राप्त होता।

क्षेमा ने खिड़की का पर्दा हटा दिया। दूर पर शान्त कुक्कुटपाद गिरि की श्यामल चोटियाँ नजर आने लगी। बिम्बसार अनिमेष-दृष्टि से उन चोटियों को देखने लगे। उनकी आँखें भर आईं फिर आँसुओं की दो चार बूँदें टपकी और गालों पर पानी की क्षणिक लकीर खीचती हुई गोद पर गिरी, फिर सदा के लिये समाप्त हो गईं।

क्या मानव हृदय की अथाह व्यथाओं का अन्त इसी तरह होता है, मूक-व्यथाओ का?

कौन इस प्रश्न का जवाब देगा? जीवन चुप है और मरण भी चुप है!!!

दिन समाप्त हो गया आधी रात को अजातशत्रु ने देवदत्त को अपने मंत्रणा-गृह मे बुलाया। वहाँ महामात्य वर्षकार भी उपस्थित

था एक धर्माध्यक्ष से मंत्रणा. यह अजीब बात थी किन्तु राजगृह में नित्य कोई न कोई अजीब बात होती ही रही थी। बहुत सी अजीब बातों में एक अजीब बात यह भी थी, देवदत्त को आधी रात को मंत्रणागृह में बुला कर परामर्श करना।

चुने हुए प्रहरी सतर्क भाव से स्थान-स्थान पर नियुक्त कर दिये थे। मंत्रणागृह में सब से पहले वृद्ध महामात्य वर्षकार ने प्रवेश किया। ललाट पर चन्दन, गले में रुद्राक्ष की माला, शरीर पर चीनांशुक का उत्तरीय दाढ़ी, मूँछ, सिर के बाल साफ, आदि-युग के महातेजस्वी ब्राह्मण के रूप में उस कूटनीतिज्ञ ने मंत्रणागृह में बहुत धीरे-धीरे प्रवेश किया। इसके बाद अजातशत्रु आया जो तितली की तरह चंचल था। कुछ क्षण बाद विशाल शरीर वाला चीवरधारी देवदत्त प्रकट हुआ जो बड़ी मजबूती से पैर रखता हुआ आगे बढ़ रहा था।

अजातशत्रु और वर्षकार ने खड़े हो कर उसका स्वागत किया। अब वार्तालाप की घड़ी उपस्थित हुई। वर्षकार अपनी तीखी तथा कृत्रिम आवाज में बोला—"आपका पधारना हम राज्य के लिये मंगल मानते हैं।" प्रयास करके मुस्कराते अजातशत्रु ने भी अपने महामात्य के कथन का मूक-समर्थन किया। वर्षकार कुछ बोलने के पहले और बोलना खतम करके अपने स्वामी के चेहरे पर एक नजर डाल लिया करता था। वह इस विधि से भाँप लेता था कि प्रभु का रुख कैसा है। अब वर्षकार के बाद देवदत्त के बोलने की बारी थी। उसका स्वर कर्कश और भारी था। उसने अपना गोल कुम्हड़े जैसा लोम-शून्य सिर हिलाया और कहा—"मैं तो मगधेश्वर की सेवा में आने को स्वयं उत्सुक था। वैशाली वालों ने जिस ढिठाई का परिचय दिया था उस का संवाद मिला तो मेरा हृदय और भी व्यथित हुआ। मैं जितनी जल्दी हो सके मगधेश्वर के निकट पहुँचने को उत्सुक हो गया। आज अवसर आया कि परम प्रतापी नरेन्द्र के सामने मैं बैठा हूँ।"

'वैशाली' शब्द कानों में पड़ते ही अजातशत्रु की भौंहें टेढ़ी हो गईं।

वह तन कर बैठ गया। उसका सुन्दर चेहरा भयानक हो गया और नथने फूल उठे। देवदत्त मन ही मन प्रसन्न हुआ क्योंकि उसकी बातों ने अनुकूल असर पैदा किया। लोहे को झुकने से पहले गरम करना जरूरी होता है। अजातशत्रु गरम हो उठा तो देवदत्त के मन का पुलकित हो जाना उचित ही था। देवदत्त ने यह भी भांप लिया कि अजातशत्रु ऐसे तत्वों का बना हुआ है जिन्हें तुरंत—कम प्रयास से ही—भड़का दिया जा सकता है। जल्दी गरम नहीं होने वाले तत्वों से जिन राजनीतिज्ञों का निर्माण होता है, वे प्रायः अजेय होते हैं, उनका मनमाना उपयोग नहीं किया जा सकता।

कुछ देर चुप रह कर देवदत्त अजातशत्रु का अध्ययन करता रहा। उस परम चतुर व्यक्ति ने कुछ ही क्षणों में नवयुवक सम्राट को इस पार से उस पार तक देख लिया। अपने को यत्नपूर्वक छिपा कर रखने की आदत न होने के कारण अजातशत्रु का ध्यान देवदत्त की तीखी नजरों की ओर न था।

वर्षकार कहने लगा "आप तो सब कुछ जानते ही हैं। हम उस गणतन्त्र की गर्दन कैसे मरोड़ें यह उपाय नहीं सूझता।"

देवदत्त—"गणतन्त्र क्या है आप शायद नहीं जानते। जनता का शोषण करने के लिए लालची और चालाक लुटेरों का एक दल होता है जो चोटी पर बैठ कर स्वर्ग सुख लूटता है और शेष गरीब जनता नरक भोगती है गणतन्त्र के नाम पर।"

वर्षकार ने प्रश्न किया—"यह तो हम भी जानते हैं मगर हमारा एक भी प्रयास फल नहीं देता। संगठन की एक भयानक दीवार के घेरे के भीतर वैशाली वाले हैं। हमारा सिर उस दीवार से टकरा कर बार-बार लहूलुहान हो जाता है।"

देवदत्त कुछ देर पत्थर की तरह स्थिर रह कर इधर-उधर देखकर धीरे से बोला - "संकोच होता है, कैसे मन की बात कहूँ। मेरा हृदय मगधेश्वर के लिए रोता है पर उपाय नहीं है।"

वर्षकार नकली उत्साह दिखलाता हुआ नम्रता पूर्वक बोला—"आप तो त्याग-स्वरूप हैं। राज्य के कल्याण के लिए आप व्यथित हैं, यह मैं जानता हूँ। आप कहिये, क्या कहना चाहते हैं। मगधेश्वर सुन कर प्रसन्न होंगे। आप के अनुभव से राजा का कल्याण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।"

'जरूर, निश्चय ही"—देवदत्त सिर हिलाकर बोला—"गणतन्त्र में दोष ही दोष हैं किन्तु वह एक संगठन प्रधान शासन-प्रणाली है। अ- कुलीनों को भी गणतन्त्र में महत्व मिल जाता है अतः वे उसकी रक्षा करते हैं। आप जानते हैं कि नीचे स्तर के लोगों की ही संख्या अधिक होती है।"

"ठीक है"—वर्षकार बोला और अभ्यासानुसार उसने अजातशत्रु के मुँह की ओर कनखियों से ताक लिया। देवदत्त कहने लगा—"मैं जानता हूँ आपका राज्य बैरियों से घिरा हुआ है, घर में भी गुप्त शत्रु हैं और बाहर भी। जंगल वाले सिंह से कहीं अधिक घातक घर के भीतर रहने वाला नाटा सा साँप होता जिसे पैरों में भी कुचल डाला जा सकता है।"

वर्षकार चौंका। उसका हृदय धड़क उठा। वह इस लिए डर गया कि कहीं शैतान देवदत्त का यह भयानक इशारा उसी की ओर न हो।

वह मन-ही-मन हरि स्मरण करने लगा। इतना मन लगा कर उसने कभी भी भगवान् को नहीं पुकारा था। एक-एक क्षण उसके लिए मौत का क्षण था। देवदत्त के होठ फिर हिले और वर्षकार अपने मन को आँखों पर केन्द्रित करके बोले जाने से पहले ही उन शब्दों को पढ़ लेने का प्रयत्न करने लगा जो देवदत्त के मन से लेकर जीभ तक भर आये थे और अब दूसरे ही क्षण बाहर निकलने वाले थे।

देवदत्त फिर बोला—"बाहर तो गौतम के अनुयायी राज्य की नींव खोखली करते फिरते हैं और भीतर कौन हैं यह आप लोग जानते हैं।

यदि मुझे उनके नाम लेने को बाध्य न किया जाय तो मैं उपकार मानूंगा।"

अजातशत्रु चौंक उठा। उसके भरे हुए कन्धों पर से उत्तरीय खिसक पड़ा और चेहरा लाल हो गया। वह इस तरह उठ खड़ा हुआ जैसे आग में दाहक पदार्थ देने से लपटें उठती हैं।

'कल फिर पधारियेगा"—कह कर अजातशत्रु चला गया। वह देवदत्त को प्रणाम करना भी भूल गया।

कानों का विष

विष केवल उसी व्यक्ति की जान ले लेता है जो उसे जानते या अनजानते खा जाता है। यह मुंह से खाये जाने वाले विष की बात हुई किन्तु जो विष कानों में डाल दिया जाता है उसका सहारक असर व्यापक होता है। वह परिवार, समाज या पूरे राष्ट्र को मार डालने की शक्ति रखता है। मुंह में डाले जाने वाले विष से कानों में डाला जाने वाला विष महासंहारक होता है।

देवदत्त कानों में विष डाल कर अजातशत्रु के साथ-साथ उसके अतीत, वर्तमान और और भविष्य तीनों का अंत कर देना चाहता था।

दूसरे दिन फिर मंत्रणा-भवन में त्रिमूर्ति बैठी। देवदत्त, वर्षकार और अजातशत्रु तीनों बैठकर गम्भीर चिंतन में डूब गए। उस दिन वर्षकार कुछ अधिक 'तिलक-चन्दन' से अलंकृत होकर आया था। गले में रुद्राक्ष की माला थी, वह बड़े-बड़े दानों की थी तथा चेहरा भी अधिक गम्भीर और संतों जैसा उसने बना रक्खा था। घुटे हुए कूटनीतिज्ञों के सारे गुण उस वृद्ध ब्राह्मण में थे। वह सारा जीवन कूटनीति से खेलता रहा, अतः मानवता को मौका ही नहीं मिला कि उसके भीतर अपने हाथ-पैर फैलावे। कूटनीतिज्ञ को मानव समझ कर उस पर विश्वास करना क्या है, घड़ियाल की पूँछ पकड़ कर नदी पार करने का प्रयत्न करता है।

वर्षकार ऐसा ही व्यक्ति था। वह महान मगध-साम्राज्य का एक मजबूत कर्णधार था और रात-दिन उसी धुन मे लगा रहता था कि स्वामी कैसे प्रसन्न रहे।

देवदत्त भौहों को ललाट पर चढा कर बोला—"विश्वास रखें, आप सम्राट् है, शासक हैं, करोडों व्यक्तियो के सिर पर आपका आसन है, फिर आप निश्चिन्त मन से भोजन करते हैं, सोते हैं जागते हैं, यह कैसी बात है। वैशाली वाले आपके महा बैरी हैं। किसी बलवान बैरी से बैर करके आराम की नींद लेना घर मे आग लगा कर सोना है। मैं कहता हूँ आप शत्रुओ से घिरे हुए हैं।" अजातशत्रु का चेहरा डर से पीला पड़ गया। वह अपने भावों को छिपाने का प्रयत्न करता-करता थक गया। अजातशत्रु को भयभीत देखकर वर्षकार पुलकित हुआ। भयभीत स्वामी पर शासन करना किसी भी धूर्त सेवक के लिए आसान होता है। व्याकुल व्यक्ति अपनी शक्तियो को गवा कर दूसरे का मुँह जोहने लगता है। शान्त और निडर रह कर जिस काम को वह स्वयं कर सकता है उसी काम के लिए वह परमुखापेक्षी बन जाता है—इस बात को वर्षकार समझता था। वह भी चेहरे पर घबराहट के भाव ला कर बोला—"गुरुदेव, आप का कथन ठीक है। मैं भी ऐसा ही समझता था। वह भय कहाँ है और उससे त्राण कैसे मिले, यह हम सोच नही पाते।'

देवदत्त मुस्कराया। उसका चेहरा भयानक हो उठा। जो मुस्कान-लहरी कुरूप चेहरो मे भी लुनाई पैदा कर देती है वही मुस्कान देवदत्त के चेहरे को डरावना बना देने का कारण बनी। उसके चेहरे पर उसके नीच विचारो के कारण जो रेखाये पैदा हो गई थी उन रेखाओं को मुस्कान ने अधिक स्पष्ट कर दिया, उभार दिया। अजातशत्रु सहम कर इधर-उधर देखने लगा। देवदत्त स्वर की रुक्षता को कम करने के लिए वाणी मे अधिक अपनापन भर कर बोलने लगा—"महाराज, शासक का कोई अपना नही होता। सब की नजर उसकी गर्दन पर होती है।

बाहर से मित्र और हितैषी नजर आने वाले भी भीतर ही भीतर सदा शासक के विनाश का ही प्रयत्न करते रहते हैं। शक्ति प्राप्त करने की भूख ऐसा कोई भी पाप नहीं है जो न करा दे।"

वर्षकार देवदत्त से भी अधिक गले में मधुरता का स्रोत उमड़ा कर बोला—'देवता, इस सिद्धान्त को हम मानते हैं। राजा या शासक को सब से सतर्क रहना चाहिये। विश्वास किया कि मारा गया।" देवदत्त वर्षकार से समर्थन प्राप्त करके उत्साहित हो गया और कहने लगा—"इतिहास हमारे सामने है। जो इतिहास से शिक्षा ग्रहण करते हैं उनके लिए इतिहास अमृत है और जो शिक्षा ग्रहण नहीं करते उन्हें वह चबा कर निगल जाता है। भारद्वाज मुनि का कथन है कि राजपुत्र केंकड़े की *तरह अपनी माता या पिता को खा कर ही अपने शरीर की वृद्धि करते* हैं। शासक कभी राजपुत्रों के प्रति स्नेह या दया का व्यवहार न करे, उन्हें नष्ट कर डाले। मैं अपनी ओर से नहीं कहता—पिशुनाचार्य का मत है कि टक्कर मारने के पहले जैसे मेंढ़ा पीछे हटता है वैसे ही कूट-नीतिज्ञ व्यक्ति चुप लगा कर और अपने स्थान से पीछे हट कर चोट करता है। आप शासक हैं महाराज, सावधान हो जाइये। राजा केवल राजा है, वह न तो किसी का पिता है और न पुत्र, वह न तो किसी का स्वामी है और न अपना। शासक को सदा अपने स्थान की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिये।"

अजातशत्रु के सामने जैसे प्रकाश फैल गया। उसकी आँखें चमक उठीं—*मानो वह अन्धकार में किसी अत्यन्त प्रिय वस्तु की तलाश कर* रहा था जो उसे एकाएक मिल गई, वह सिर झुका कर कुछ सोचने लगा। वर्षकार गले की माला उतार कर तेजी से जपने लगा। उसकी घुटी हुई चांद पर प्रकाश चमक रहा था और उसकी दीर्घ छाया दीवार पर प्रेत की तरह नाच रही थी। प्रकोष्ठ का वातावरण अत्यन्त बोझिल था। दरवाजे पर जो प्रहरी खड़े थे उनकी आँखें भी झपकने लगीं। कुछ देर भद्दा-सा डरावना सन्नाटा रहा फिर वर्षकार अजातशत्रु की ओर

देख कर देवदत्त से बोला—"आपने बहुत ही नीति युक्त बात कही है। हमें सावधान रहना है।"

देवदत्त अपनी मोटी जाँघ पर भारी हाथ पटक कर बोला—"इसी लिए तो मैं आया हूँ महामात्य जी ! अब तक आप असावधान रहे हैं। राज्य और महाराज की रक्षा का दायित्व आप पर है। आप जानते हैं ढेरी का साँप बुरा होता है। वह कब ढेरी के भीतर से निकल कर चुटक दे पता नहीं है।"

वर्षकार बोला—"देवता, आपका कथन सत्य है। महाराज, दया और करुणा के अवतार हैं।"

"दया"—देवदत्त गरज उठा—"शासक के लिए दया मौत है महामात्य जी ! जो शासक दया और करुणा के चक्कर में फँसा वह बेमौत मारा गया। इतिहास कहता है कि स्त्री, पुत्र, भाई और पिता तक ने राजा की हत्या कर दी है। मैं कहता हूँ शासक को यम की तरह दयाहीन और तलवार की तरह तीखा होना चाहिए। आपको शासन करना है, राज्य की सम्पदा और सीमा का विस्तार करना है। चंदन से लीपी हुई धरती पर नहीं, रक्त से सींची हुई धरती पर शासक का आसन होता है। दया और करुणा कायरों की कायरता छिपाने की यवनिका मात्र है।"

इस लम्बे प्रवचन के बाद देवदत्त चुप लगा कर अपनी बातों का असर देखने के लिए कभी वर्षकार का तो कभी अजातशत्रु का मुँह अपनी बाज जैसी आँखों से देखने लगा।

वर्षकार की विचित्र स्थिति हो गई। वह मन ही-मन अपने को छोटा अनुभव करने लगा क्योंकि उसके भीतर भी देवदत्त की तरह ही दुष्टता थी किन्तु वह उतना विकास नही कर सकती थी। ब्राह्मण होने के कारण वर्षकार के भीतर कभी-कभी दया, क्षमा और ममता की हल्की किरणें झलक पड़ती थी और वह कुछ ऊपर उठ कर सोचने लगता था, जो एक सधे हुए कूटनीतिज्ञ के लिए भारी दोष है। वर्षकार प्रयत्न करके

अपने विचारों को दया ममता या यों कहिए कि मानवता के प्रभाव से दूर रखता था। वह अपनी इस कमी या कमजोरी का अनुभव करके पछताता भी था कि उसे जिस हद तक पशुत्व को या पशुत्व से भी भयानक पिशाचत्व को ग्रहण करना चाहिए था, उतना ग्रहण नहीं कर सका। राजनीति के मैदान में वह जब-जब विफल हुआ अपनी इसी कमी के कारण—वह सोलहों आने राक्षस न बन सका। गृहत्यागी और मोक्ष-गामी देवदत्त में वर्षकार ने उस पिशाचत्व का भरपूर विकास देखा जिसके लिए वृद्ध महामात्य लालायित रहता था। उसने अपने को—तुलना में—देवदत्त से हीन मान लिया। इस दृष्टि से वर्षकार से अधिक नजदीक—अजातशत्रु के—देवदत्त ही था। अजातशत्रु के भीतर जितनी क्रूरता थी, जितनी निर्दयता और अमानुषिकता थी उससे कुछ अधिक ही देवदत्त पिशाच था। वर्षकार के विचारों में—उसके अनजानते कभी-कभी कोमलता भी छलक पड़ती थी जिससे अजातशत्रु झुंझला उठता था।

अजातशत्रु देवदत्त की ओर विशेषरूप से आकर्षित हुआ। जब देवदत्त अपने डेरे पर चला गया तो वर्षकार की ओर खिन्न दृष्टि से देखता हुआ अजातशत्रु बोला—"महामात्य जी, देवदत्त ने स्पष्ट चित्र मेरे सामने रक्खा उतना स्पष्ट चित्र आपने कभी नहीं रक्खा। मैं शासक हूँ और मुझे तो ऐसे विचारों से दूर रहना चाहिए जो मेरे भीतर निर्बलता का संचार करें। मुझे कठोर और सतर्क रह कर ही शासन करना चाहिए। शासक सचमुच किसी का कोई नहीं होता। वर्षकार घबरा उठा। वह बोला -"महाराज' मैं समझता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए। किन्तु परिस्थिति पर ध्यान देकर ही कदम बढ़ाना मैंने उचित समझा। शासक को सदा प्रतिक्रिया से सावधान रहना चाहिए। कभी-कभी क्रिया से प्रतिक्रिया भयानक होती है।"

अजातशत्रु की आँखें लाल हो गईं। वह झुंझला कर बोला—"प्रतिक्रिया कैसी होती है महामात्य जी! शासक की इच्छा ही सब कुछ

है—वह जो चाहे करे। कमजोरों को प्रतिक्रिया का भय होता है, वह पद-पद पर सहमता हुआ शेर की तरह शासन नहीं कर सकता।" वर्षकार ने अपना रुख बदला। वह कहने लगा—"महाराज ठीक ही कह रहे हैं।"

अजातशत्रु फिर बोला—"यदि मैं अपने घर के बैरियों की उपेक्षा यह सोच कर करता रहा कि वे जब आगे कदम बढ़ावें तो मैं उनकी खबर लूँ—यह उचित नहीं है। साँप इसी लिए पहले ही हमला कर देता है, वह यदि प्रतीक्षा करेगा तो कुचला जाएगा। मनुष्य और सर्प में समझौता कैसे हो, दोनों एक दूसरे के जन्मजात वैरी हैं। शासक के भी बहुत से बैरी होते हैं। वह भी इसके पहिले कि कोई उसके मुकुट की ओर हाथ बढ़ावे, यदि तलवार का वार नहीं कर देता तो संभव है अन्त में मुकुट के साथ ही उसे अपने सिर से भी हाथ धोना पड़े।" वर्षकार फिर बोला—"महाराज का ऐसा सोचना उचित है।"

अजातशत्रु कुछ ठंडा पड़ा और कहने लगा—"मैं वैशाली का अन्त करना चाहता हूँ, अन्त करूँगा और अवश्य; किन्तु पहले घर के गुप्त शत्रुओं का अन्त करना उचित है। आप की क्या राय है!"

वर्षकार ने कहा—"महाराज ने बहुत ही उचित सोचा है। मैं सहमत हूँ।"

अजातशत्रु फिर धीरे-धीरे बोला—"पुराने सम्राट बिम्बसार ने खुशी-खुशी मुझे राजदंड नहीं सौंपा था, यह आप जानते हैं। अब वह विफल वृद्ध चाहता है कि मेरा अन्त हो और वह फिर अपनी वैशाली वाली रानी के साथ मगधेश्वर का पद प्राप्त करे। क्षेमा वैशाली की भयानक बेटी है।"

इस बार "महाराज का विचार ठीक ही है," वर्षकार नहीं कह सका। वह पूरा जोर लगा कर बोलना चाहता था किन्तु कंठ में जो छिद्र है उस से जब बात बड़ी होती है तब वह कंठ तक आकर रुक जाती है, बाहर निकलती ही नहीं—यदि निकलती भी है तो बहुत जोर लगाने

पर। दो चार बार होंठ चाट कर वर्षकार ने बोलने का प्रयास किया किन्तु फिर भी वह बोल न सका। अजातशत्रु अपनी तेज नजरों से वर्षकार के व्यग्र चेहरे को बहुत ही बारीकी के साथ देख रहा था। वर्षकार को यह मालूम था कि राजा उत्तर की प्रतीक्षा ही नहीं कर रहा है बल्कि उसके चेहरे पर उभरने वाले मूक भावों का भी अध्ययन कर रहा है। वह अधिकाधिक विकल हुआ और अन्त में अनन्योपाय होकर बोला—"महाराज का विचार सही है मगर'''' ''''।"

अजातशत्रु फुंकार करके बोला—"मगर कैसा होता है महामात्य जी! आप स्पष्ट मत व्यक्त करें—हाँ या नहीं!"

वर्षकार जानता था कि बिम्बसार साधु हृदय का व्यक्ति है। वह उसके राज्य काल में पच्चीस वर्षों तक महामात्य रह चुका था। बिम्बसार ने बुद्धदेव के चरणों को अपना आश्रय बनाया था। मैत्रीधर्म और शील को अपनाया था। क्षेमा का जन्म वैशाली की धरती पर अवश्य हुआ था। किन्तु वह कोशल की कन्या थी। अपनी सच्ची जानकारी का परिचय यदि वर्षकार देता तो इस में तनिक भी संदेह नहीं कि अजातशत्रु वहीं पर उसका वध कर देता। एक-एक क्षण वर्षकार के लिए मौत का क्षण था। वह यदि सत्य भाषण करता तो अपना नाश करता और झूठ बोलता तो महापातक का भागी बनता। उसने एक धर्म-वृद्ध ब्राह्मण की तरह नहीं कूटनीतिज्ञ की तरह सोचा और चेहरे पर उत्साह की झलक पैदा करने का सफल प्रयास करता हुआ कहा—"महाराज की जो सम्मति है वह अवस्था और स्थिति के अनुकूल है। मैं सहमत हूँ और मंत्री-परिषद भी अपनी सहमति प्रकट करेगी, मेरा ऐसा विश्वास है। राजा का बल परिषद है, महाराज इस को ध्यान में रक्खें।"

परिषद का नाम सुनते ही अजातशत्रु का उठा हुआ फन झुक गया। स्वर भी नरम पड़ गया। वह मुस्कराया और बोला—"महात्मा जी, परिषद के सामने मैं नत-मस्तक हूँ। जैसे बने आप परिषद से स्वीकृति

ले लें। मैं बिम्बसार को राज्य के हित के लिए बन्दी बनाकर रखना चाहता हूँ। जब तक वह वृद्ध स्वतन्त्र रहेगा तब तक न तो मैं सुरक्षित हूँ और न राज्य। वह वैशाली का समर्थन करता है। बुद्ध भी वैशाली का ही हितचिंतन करते हैं।

वर्षकार के हाथों में एक अव्यर्थ अस्त्र अनायास ही आ गया। अजातशत्रु परिषद से डरता है—यह बात वह पहले नहीं जानता था। वर्षकार ने क्षण भर में ही अपने को बलवान मान लिया और कहा—"महाराज, मैं परिषद को समझा लूंगा मगर आप महारानी क्षेमा को अभी आजाद रहने दें। यदि स्त्री पर शस्त्र चलाया गया तो परिस्थिति सँभाल के बाहर हो जाएगी।"

अजातशत्रु घबरा गया और बोला—"क्या क्षेमा को मैं छोड़ दूँ?"

वर्षकार जोर देकर बोला—"अवश्य! बिम्बसार को आप प्रत्यक्ष रूप से बन्दी बना सकते हैं किन्तु क्षेमा के सम्बन्ध में जो कुछ करें वह अत्यन्त गुप्त रूप से। परिषद क्षेमा पर हाथ उठाने का समर्थन नहीं करेगी। नारी-जाति का स्थान पुरुषों के हृदय में ममता, क्षमा और दया के रूप में है। पुरुष केवल वहीं पर नारी का घातक बन जाता है जहाँ पर नारी अपने चरित्र की अवहेलना करके पूरे समाज के साथ विश्वासघात करती है।"

अजातशत्रु सिर झुका कर विचारों में तल्लीन हो गया। देवदत्त अपने डेरे में बैठा हुआ आनन्द मना रहा था। उसने कुर्मायन से आनन्द में गद्-गद् होकर कहा—"अब विलम्ब नहीं है। जेतवन में अब हम विहार करेंगे और गौतम की "मूलगन्धकुटी" में मैं रहूँगा। वहीं बैठ कर पूरे मगध साम्राज्य की नकेल सँभालूंगा। कूटनीतिज्ञ प्रत्यक्ष रूप से शासन करना नहीं चाहते। पर्दे में बैठ कर वे राज्य करते हैं।"

कुर्मायन हाथ जोड़ कर बोला—"यह कैसे होता है शास्ता?"

देवदत्त खिलखिला कर हँसा। उसकी हँसी उसी तरह की थी जैसे श्मशान में रात को वैताल हँसा करते हैं।

वह बोला—"अरे मूर्ख, चीवर पहन कर सिंहासन पर बैठना असंभव है। चीवर उतार देने से जनता घृणा करने लगेगी। अब समझा या नहीं।" कुर्मायन दाँत निपोड़ कर बोला— 'समझ गया।' देवदत्त ने उसे टरकाया और स्वयं स्वस्थ मन से योजना बनाने लगा। वह पहले बिम्बसार को फिर बुद्धदेव को और अन्त में अजातशत्रु को धरती से दूर हटा देना चाहता था था। वह चाहता था कि कोई मूर्ख और आवारा मगधेश्वर बने और देवदत्त के इशारे पर बन्दर नाच नाचा करे। पतित व्यक्ति को यदि जरा सा भी बढ़ावा मिल जाय तो वह अपने मन को इतना आगे दौड़ा देता है कि उसका पीछा करना असंभव ही समझिये। देवदत्त कल्पना की कोमल गोद में खेलने लगा

38708

८

बुद्धदेव की चहेती

सावन की कजरारी घटायें राजगृह की हरी-भरी पहाड़ियों में छाई हुई थी। आनन्द और उत्सव प्रिय नागरिक झूलोत्सव मना रहे थे। मानो पूरी राजधानी उठ कर पहाड़ियों और वनों में चली गई थी—आबाल-वृद्ध-वनिता सभी झूलोत्सव में अपने को भूल चुके थे। शीतल हवा के झोंके और कभी-कभी आकाश से गिरने वाली फुहारें मानो जीवन बरसा रही थी। धीरे-धीरे मेघों के पीछे दिन का अन्त हुआ। संध्या की धुंधली छाया चुपचाप आकाश से उतरी और फैलने लगी। पहाड़ियों की गोद से लौटने वाले आनन्द विभोर नागरिकों ने सड़कों को चहल-पहल से भर दिया। हजारों दूकानें जगमगा उठीं। रथों का आना-जाना बढ़ गया। इसी समय राजगृह के प्रसिद्ध मद्य-विक्रेता मेघवर्ण की विशाल और सुन्दर पानशाला के सामने एक रथ आकर रुका जिसमें ऊँची नस्ल के दो घोड़े जुते थे। रथ पर से एक तन्वांगी, श्यामा नवयुवती धीरे-धीरे कपड़ों को सँभालती हुई उतरी। एक श्वेत वस्त्रों वाले वृद्ध ने उसे अपने सबल हाथों का सहारा दिया। इधर-उधर के लोगों की उत्सुक दृष्टि उस अनिंद्य सुन्दरी पर पड़ी जो फूलों से ढकी हुई थी। सभी गहने फूलों के थे। कमर में सोने के तारों का कटिवस्त्र था और एक कचुकी थी जो जगमग कर रही थी। दोनों नंगी बाहें सुन्दर और

गोल-गोल थीं। गर्दन सुराहीदार तथा कजरारी आँखें मानो नींद से सराबोर थी। वह सुन्दरी दोनों हाथों से कटिवस्त्र को जरा सा ऊपर उठाकर, कीचड़ से बचती हुई मेघवर्ण की पानशाला के दरवाजे पर पहुँची। जो पानशाला में बैठे थे वे अधीर होकर उस रूप की रानी की ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे। क्षण मात्र मे ही वह सुन्दरी दर्शकों की कानाफूसी का विषय बन गई। वह वृद्ध पीछे-पीछे आदर पूर्वक चल रहा था मानो किसी महामहिमामयी महारानी के पीछे उसका प्रधान अंग-रक्षक हो।

मेघवर्ण जो प्रायः अपने आसन पर ही बैठा रहता था उठा। उसने अपने भारी शरीर को बड़े प्रयास के बाद सचल बनाया। बिना सूंड के छोटे हाथी की तरह मस्त चाल से चलता हुआ मेघवर्ण आगे बढ़ा। उसके पीछे-पीछे दूकान के दूसरे कर्मचारी मन्त्र-मुग्ध से चल रहे थे। यह छोटा-सा जुलूस द्वार पर आकर रुका। मेघवर्ण कुछ बोलना ही चाहता था कि वृद्ध ने पूछा—"कोई एकान्त स्थान है जहाँ हम बैठ सकें?"

एक साथ ही कई कर्मचारी बोल उठे—'है क्यों नहीं।" मेघवर्ण ने अपने अधिकार का हनन समझ कर क्रोधपूर्वक पीछे लौट कर देखा। वे कर्मचारी भय से दो कदम पीछे हट गये जो मेघवर्ण की पीठ पर उछल कर चढ़ जाना चाहते थे। अब मेघवर्ण का गन्दा मुँह खुला। उसने आदत के अनुसार एक दुर्गन्धपूर्ण जँभाई लेकर कहा—"पधारिए!" वृद्ध आगे-आगे चला और वह रूपसी पीछे-पीछे उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से मेघवर्ण की सुसज्जित पानशाला को गर्दन घुमा-घुमाकर देख रही थी। चारों ओर फूलमालायें लटक रही थी और अगर-धूप की मोहक महक हवा को विह्वल करती थी। मद्य के बड़े-छोटे मटके फूलों से ढके रखे थे—सर्वत्र सुगन्ध ही थी। फूलों और तेज शराब की मिश्रित महक आँखों में खुमार पैदा कर देती थी। आगे आगे चल कर स्वयं मेघवर्ण ने एक बन्द दरवाजे को खोला जो पानशाला के एक कोने में था। दरवाजा खुलते ही भीतर से सुगन्ध बाहर निकली और पूरी पानशाला में फैल गई।

वह एक छोटी-सी कोठरी थी। फर्श पर दूध जैसी सफेद चादर बिछी थी और दीवारें चित्रों से भरी थी—प्रत्येक चित्र हृदय में उद्वेग पैदा करने वाला था जिसे पानशाला के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है। वृद्ध के पीछे सुन्दरी भी अन्दर घुसी। जाते-जाते वृद्ध ने मेघवर्ण की काली-काली गहरी रेखाओं वाली मासल हथेली पर सोने के पाँच चमकदार सिक्के रख कर कहा—"सबसे मूल्यवान मद्य भेजो।'

जो-जो पानशाला में बैठे थे उनकी आँखें उस सुन्दरी को फिर से देखने के लिए घबरा रही थीं। चाँदी के दो सुन्दर पात्रों में मद्य उस कोठरी में स्वयं मेघवर्ण पहुँचा आया। किसी भी बहाने से वह उस सुन्दरी को बार-बार देखना चाहता था। अब उस कोठरी का हल्का दरवाजा बन्द हो गया। देखने के लिए जो उत्सुक थे वे मानों अपनी दृष्टि से उस बन्द दरवाजे को धकेलने का विफल प्रयास करने लगे। मार्ग में जिन लोगों ने उस सुन्दरी को देखा था वे भी दूकान के भीतर आये और बैठ कर मद्यपान करने लगे। इस तरह उस दिन मेघवर्ण की दूकानदारी चमक उठी। एक घटा बाद दरवाजा खुला और वृद्ध के साथ वह सुन्दरी बाहर निकली। पीने वालों में फिर से खलबली मच गई। सुन्दरी चचल आँखों से प्रत्येक व्यक्ति को बेचैन करती हुई बोली—"मद्य का एक पात्र रथ पर रखवा दो। मद्य सर्वोत्तम हो।" सुन्दरी का इतना कहना था कि वृद्ध ने फिर सोने के पाँच सिक्के मेघवर्ण के आगे फेंक दिये।

अब तक सुन्दरी का स्वर किसी ने सुना न था। उसकी आवाज बहुत ही सधी हुई थी जैसे किसी गान-विद्या में पारंगत गायिका की हो। सुन्दरी चली गई और उसके बाद पानशाला में ऐसी उदासी छा गई कि आधे पीये हुए मद्य की प्याली छोड़-छोड़ कर मद्यप जाने लगे। देखते-देखते पानशाला में इने-गिने व्यक्ति रह गये जिनमें राज्य का एक गुप्तचर और उसका एक प्रधान था। सबके जाने के बाद गुप्तचर ने मेघवर्ण से पूछा—"यह कौन थी जी।

मेघवर्ण फिर जंभाई लेकर बोला—' यह तो मैं नहीं जानता महाशय ! पर राजगृह की यह नहीं है, यह तो पता चलता है ।"

गुप्तचर बोला—"पता लगाकर कल कहना।"

मेघवर्ण डर कर बोला—' प्रयास करूंगा ।"

गुप्तचर का प्रधान गुर्राया—'प्रयास क्या करोगे, तुम्हें, पता लगाना ही होगा ।"

मेघवर्ण सिर से पाँव तक काँप गया । उसकी विशाल दुमंजिली तोंद तक हिल गई, जिसका हिलना देख कर गुप्तचरों का प्रधान हँस पड़ा !

किसी न किसी तरह रात कटी । सूर्योदय से एक घण्टा पहले ही पानशाला के दरवाजे पर वही रथ आकर रुका। मेघवर्ण दूकान बन्द करने का आदेश दे चुका था ' रथ पर से वही सुन्दरी उतरी किन्तु बेतरह श्रान्त । शृङ्गार बिखरा हुआ था, होठों का रंग निवर्ण था, पलकें सूजी हुई थीं, कपड़े भी चूर-चूर हो गये थे। मेघवर्ण आश्चर्य व्यग्र हो कर बोला—"अरे यह हाल ' आप कहाँ थी आर्ये ?"

वह स्त्री तो लज्जा का नाट्य करती हुई नई दुल्हन की तरह सिर झुका कर खड़ी रही मगर वृद्धव्यथित ने इधर-उधर देख कर मेघवर्ण के कान में धीरे से कहा—"यह तथागत की प्रेयसी है ।"

मेघवर्ण चीख कर धप्प से धरती पर ही बैठ गया—दोनों हाथों से अपने कान बन्द करके भैंसे की तरह लम्बी-लम्बी साँस लेने लगा ।

रथ आगे बढ़ा और देखते-देखते नगर के उत्तर-द्वार से बाहर हो गया। बहुत देर बाद मेघवर्ण उठा और कराह कर बोला—"हाय, किस का विश्वास किया जाय ।"

ठीक इसी समय मेघवर्ण की पानशाला से चार कोस की दूरी पर देवदत्त का प्रवचन हो रहा था। वह एक फूले हुए कदम्ब-वृक्ष के नीचे बैठा था और वर्षकार से कानाफूसी कर रहा था। दूर पर कुर्मायन बैठा कानों से नहीं, साँप की तरह आँखों से दोनों की बातें सुनने का प्रयत्न कर रहा था। वर्षकार उठा और अपने रथ पर चला गया तब कुर्मायन

निःशंक रेंगता हुआ-सा देवदत्त के निकट पहुँचा और प्रणाम करके एक ओर बैठ गया। देवदत्त बोला—'आयुष्मान् तुम्हें मैं कुछ ऐसी बातें बतलाऊँगा जिनका महत्व देवराज शक्र तक नहीं जानते। राजगृह के महा-बलवान यक्ष मखादेव ने भी मुझ से आकर कुछ सीखना चाहा किन्तु भय के मारे वह दूर ही रहा, निकट नहीं आ सका।"

देवदत्त की बातें सुनकर कुर्मायन मन ही मन चिढ़ कर रह गया। देवदत्त फिर कहने लगा—'तुम मेरी धर्म-सेना के प्रधान सेनाध्यक्ष पद का गौरव बढ़ा रहे हो। तुम्हे यह जान लेना चाहिए कि साध्य पर ही सदा ध्यान देना। साधन के चक्कर मे फँस कर दिमाग के चक्कर मे नहीं फँसना।"

कुर्मायन विनयपूर्वक बोला—"जरा साफ-साफ कहिए।" देवदत्त सिर को एक झटका देकर बोला—"ठगी, चोरी, खून, विश्वासघात, व्यभिचार, अनाचार—सभी दोष हैं मगर लक्ष्य-सिद्धि के लिए इनका आश्रय लेना दोष नहीं है। धन से ही धरती पर सुख और मरने पर स्वर्ग मिलता है। जिसके पास धन होता है वह उसकी छाया भी किसी को देखने नहीं देता—अपनी पत्नी और पुत्र का भी वह वध कर डालेगा यदि इनमे से कोई उसके धन पर हाथ डालना चाहे।"

कुर्मायन मन-ही-मन बोला—'बाप रे बाप, यह मनुष्य है या राक्षस।"

देवदत्त बोलता गया—"यदि तुम्हे धन की आवश्यकता है तो क्या करोगे, कैसे प्राप्त करोगे?"

"उपाय बतलाइये"—कुर्मायन ने पूछा। देवदत्त कहने लगा—"जैसे भी हो, जिस उपाय से भी हो अपने काम को बनाना ही परम पुरुषार्थ है। नरक तो दुर्बलों के लिए है। बलवान कभी भी नरक नहीं जा सकता। क्या राजाओं पर नरहत्या का पाप कभी लग सकता है? वे खून की नदियाँ बहाया करते हैं?"

"नहीं शास्ता"—कुर्मायन क्रुद्ध कर बोला।

देवदत्त ने कहा—"मैं भी राजवंश का हूँ, राजा हूँ और धर्म का

शासक हूँ। तुम सेनापति हो—इस बात को बराबर ध्यान में रखना !"

कुर्मायन बोला—"शास्ता का आदेश सदा मानूँगा।"

देवदत्त—"कोई भिक्षु नजर नहीं आता? वे कहीं भाग गये क्या?"

कुर्मायन बोला—"अजातशत्रु के स्वागत-सत्कार से बहुतों का पेट खराब हो गया। आधा पेट खाने वाले कमजोर भिक्षु रात-दिन मसाले-दार माँस, घी, पूप (पूआ), खज्जक (खाजा) खा-खा कर बीमार हो गये। दो तो मर भी गए। कुछ नवयुवक भिक्षु रात भर नाच देखते रहे और भक्तों के दिये हुए मद्य-मांसादि खाकर बेहोश पड़े हैं, कुछ गाँवों में जाकर रसिकता का सुख लूट रहे हैं।"

देवदत्त ने कहा—"ठीक है। उन्हें रोको मत। सीमा के भीतर रह कर सब कुछ किया जा सकता है। रात-दिन ध्यान-समाधि में लगे रहने से मन पथरा जाता है और जीवन से नफरत पैदा हो जाती है। मन बहलाने के लिए कुछ न कुछ स्वतन्त्रता तो देनी ही पड़ेगी आयुष्मान् !"

कुर्मायन ने निवेदन किया—"यह वर्षकार क्यों आया था शास्ता? इस भूखे गृद्ध को देखकर मैं भयाकुल हो उठता हूँ। इससे बचना चाहिए महाराज !"

देवदत्त मुस्करा कर कहने लगा—"कल मगधेश्वर भी पधारेंगे। बात ही ऐसी है आयुष्मान्! जैसे साँप अपने शिकार को धीरे-धीरे अपनी कुण्डली में बाँध कर निगलना आरम्भ करता है उसी तरह राजनीति में भी अपने शिकार को पहले कस कर बाँधा जाता है और फिर निगला जाता है। मगधेश्वर आज मेरे बन्धन में हैं, उन्हें शीघ्र ही निगल कर जेतवन में विहार करूँगा। यदि विफल हुआ तो मगध-साम्राज्य को पैरों से रौंद कर आऊँगा।"

कुर्मायन बोला—"देर न कीजिए शास्ता। वर्षकार बहुत ही घुटा हुआ आदमी है। किसी तरह भी इसके मन में सन्देह हुआ तो लेने के देने पड़ जाएंगे।"

देवदत्त ठठाकर हँस पड़ा और बोला—"ऐसे-ऐसे पचासों वर्षकार मेरे तलवे चाटा करते हैं कुर्मायन !"

दूर पर आकर एक वृद्ध व्यक्ति खड़ा हो गया। देवदत्त ने कुर्मायन से कहा—"तुम दूर हट कर बैठो। यह एकान्त में मुझ से कुछ कहना चाहता है।"

झुँझला कर कुर्मायन अपनी छोटी सी 'रावटी' के भीतर चला गया। उसने कोने में पड़ी हुई मैली-पुरानी कथरी को हटा कर एक पात्र निकाला और फिर बैठ कर पीने लगा। जब पात्र खाली हो गया तो बोला—देवदत्त चाचा, तुम समझते हो कि कुर्मायन अक्ल का अन्धा है। किसी दिन तुम्हारी नाक पर चूना न लगाया तो मेरा नाम नहीं।"

इसके बाद वह लम्बा लेट गया और गहरी नींद में डूबने-उतराने लगा।

वह वृद्ध व्यक्ति आकर देवदत्त के निकट बैठ गया और मुस्करा कर बोला—"सब ठीक है। चिन्ता मत करो। तुमने वादा किया है कि सफलता मिलने पर मेरी बेटी को अजातशत्रु की रानी बनवा दोगे—याद है कि नहीं ?"

देवदत्त बोला—"तुम भी पूरे अमहक हो जी। अब तक मुझे पहचाना भी नहीं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तो इन्द्र का आसन तक हिलने लगता है। जो कुछ मैंने कहा है वह सत्य है। धर्म की रक्षा के लिए मैं धरती पर आया हूँ। तथागत तो पाप फैला रहा है, मुझे तुमने वैसा ही समझा है क्या ?"

वृद्ध सकपका कर क्षमा याचना करने लगा और देवदत्त पूरी ऊँचाई में तन कर 'सिद्धासन' से बैठ गया। वह वृद्ध उसकी ऐसी मुद्रा देख कर डर कर बोला—"भगवान्, क्षमा कीजिये। मैं क्षुद्र-प्राणी हूँ।"

देवदत्त बाघ की तरह चिल्लाया—"मुझ पर सन्देह ! यदि मैं चाहूँ तो राजगृह की सभी पहाड़ियाँ जलकर खाक हो जाँय और तू भी खाक हो जाय।"

वृद्ध देवदत्त के चरणों पर औंधे मुंह गिरा और कातर स्वर में बोला—"महात्मन्, बस मेरी कन्या को मगधेश्वरी का पद दिलवा दीजिये। आपने जैसा कहा है उसी के अनुसार हम काम कर रहे हैं। आप तो सर्वज्ञ हैं फिर मेरे कहने से क्या होता है।"

देवदत्त का दाहिना हाथ धीरे-धीरे अभय-मुद्रा के रूप में परिणत हो गया। वह आंखें बन्द किये कहने लगा—"देख रहा हूँ। शक्र का आसन हिल रहा है। राजगृह के सभी यक्ष भय से भाग रहे हैं। तू डर मत। धन चाहिए? कितना दूं? जा उस वृक्ष के नीचे एक सहस्र स्वर्ण विरम तुझे मिलेंगे। मिट्टी हटा कर निकाल ले और जी लगा कर कार्य का सम्पादन कर। तेरी कन्या अवश्य मगधेश्वरी का पद प्राप्त करेगी।"

वृद्ध की बाछें खिल उठीं। वह देवदत्त के चरण छोड़ कर उस वृक्ष की ओर ताकने लगा जिसके नीचे एक हजार सोने के सिक्कों की बात देवदत्त ने कही थी। देवदत्त ने वृद्ध के कान में कुछ कहा। वृद्ध ने हाथ जोड़ कर प्रसन्नता प्रकट की। दिन का अन्त हो गया था। घटायें उमड़ रही थी। हवा के झोंके शीतल थे। वह वृद्ध वृक्ष के नीचे से सोने के सिक्के निकाल कर देवदत्त की वन्दना करके चला गया। देवदत्त सतोष की साँस लेकर बड़बड़ाया—"गौतम, अब सँभलो तो जानें।"

फिर कल की तरह मेघवर्ण की दूकान पर रथ आया। फिर एक वृद्ध के पीछे-पीछे वही सुन्दरी उतरी। आज उसकी वेष-भूषा दूसरे प्रकार की थी। उसका बनाव-शृंगार कल से अधिक घातक था। दोनों कुछ देर एकान्त कोठरी में रह कर मद्य-पान करते रहे और कल की तरह ही मद्य का एक पात्र लेकर और मेघवर्ण को ५ सोने के सिक्के देकर चले गये। मेघवर्ण दोनों को देखते ही सिहर उठा। जब वे रात बीतने पर पानशाला के अतिथियों की नींद और भूख हराम करके चले गये तो छाया की तरह निःशब्द गुप्तचरों का प्रधान मेघवर्ण के पास आया और उसकी आँखों से आँखें मिला एक कोने में बैठ गया। जब पानशाला खाली हो गई तो

मेघवर्ण तोंद का भार लादे गुप्तचरों के प्रधान निकट गया। प्रधान ने पूछा—"क्या पता चला।"

मेघवर्ण बोला—"भयानक, महाभयानक" इतना बोल कर उसने प्रधान के कान में कुछ कहा। प्रधान के हाथ से भरे हुए मद्य की प्याली छूट कर नीचे गिर पड़ी और चूर-चूर हो गई। वह घबरा कर उठा। ऐसी असम्भव बात सुनने की प्रधान ने कल्पना भी नहीं की थी। कुछ क्षण में अपने को स्वस्थ करके वह बोला—"मेघवर्ण तुम भी मद्यपान करते हो क्या ?"

मेघवर्ण बोला—"मैं ? आजकल कभी भूल से भी नहीं। मैं विक्रेता-मात्र हूँ महोदय।"

"तो अफीम खाते होगे"—प्रधान ने सवाल किया।

मेघवर्ण डर कर बोला—"विश्वास कीजिये, मैं किसी तरह का भी मादक-द्रव्य ग्रहण नहीं करता।"

प्रधान बोला—"तो तुमने झूठ बोलने का अभ्यास किया होगा ? जानते हो गुप्तचर विभाग को धोखा देने का परिणाम क्या होता है ?"

अनजाने ही मेघवर्ण का हाथ अपनी गर्दन पर चला गया। वह रुआँसा होकर बोला—"स्वामी, जो मैं कह रहा हूँ सत्य है।"

गुप्तचर का प्रधान क्रोध से तिलमिला कर बोला—"झूठ प्रमाणित होने पर तुम्हारा सिर काट लूँगा।"

मेघवर्ण गिड़गिड़ाकर बोला—"स्वामी, मेरा ही क्यों, मेरे पूरे परिवार के सिर पर आप का अधिकार है।"

आहें
भय
न्याय

भादों की घटाओं से भरी काली रात और मेघों का गर्जन। सैकड़ों उल्काओं (मशाल) के प्रकाश से राजगृह का जंगल एकाएक जगमगा उठा।

कई सौ मजदूरों ने एक दुर्गम स्थान के बीच में, जो पहाड़ियों की गोद में था, एक छोटी सी कोठरी का निर्माण-कार्य शुरू कर दिया। पत्थर के अनगढ़ ढोके जमा किये जाने लगे, राजों ने उन ढोकों को काम में लाकर देखते-देखते कोठरी के अस्तित्व को साकार कर दिया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उस भयानक कोठरी की दीवारें ऊपर उठने लगीं और ५-६ हाथ ऊपर उठ कर रुक गईं। अब छत की पटाई शुरू हुई। मोटी-मोटी डालों को काट कर ऊपर रक्खा गया। मिट्टी डाल दी गई। उस पर से पत्थरों का अम्बार लगा दिया गया। उस कोठरी का फर्श और भी भयानक था। पत्थर के बड़े-छोटे ढोके नीचे डाल दिये गये। कोठरी के भीतर न तो कोई खड़ा रह सकता था और न बैठ ही सकता था। ढोके बड़े छोटे और बेढंगे एक दूसरे के ऊपर रख दिये गये थे। इस कोठरी में एक ही मोखा था जिससे कुक्कुटपाद-गिरि का ऊपरी भाग दिखलाई पड़ता था। इसी पहाड़ी पर भगवान बुद्ध वर्षावास कर रहे थे।

मगध राज्य के शताधिक-सैनिकों की देख-रेख में यह छोटी सी कोठरी सूर्योदय होते न होते बन कर तैयार हो गई। दरवाजा एक ही था जिस मे लोहे के मोटे-मोटे सींखचे लगे थे। कोठरी अन्धकार पूर्ण थी।

सूर्योदय के पूर्व ही राज-मिस्त्री-मजदूर चले गये। सैनिक कोठरी को घेर कर शिविर बनाने में लग गये। दिन भर में यह भयानक कार्य भी पूरा हो गया। उस ओर किसी के आने जाने का प्रयोजन न था। एक मार्ग था, उसे भी सर्व साधारण के लिये रोक दिया गया।

राजगृह की पहाड़ियों की गोद मे रात भर मे ही एक छोटे से नरक का उदय हो गया। आनन्द मे डूबने-उतरने वाले नागरिकों को इसका पता भी नहीं चला कि कहाँ क्या हो रहा है। शासक क्या करता है यह जानने का अधिकार शासितो को नहीं है, जो सब कुछ जानना चाहे उसे राजद्रोही कहा जा सकता है। सच्ची बात तो यह है कि शासक जनता का विश्वास प्राप्त करता है, अपना विश्वास उसे नही देता। राजनीति मे केवल लिया ही जाता है, देने का नियम ही नहीं है।

दिन के प्रकाश में वह भद्दी, डरावनी कोठरी अपनी भद्दी कुरूपता को छिपा न सकी। वृक्षों के बीच मे और झाड़ियों से घिरी हुई वह छोटी सी कोठरी नृशंसता का एक गर्हित नमूना-सी दिखलाई पड़ती थी। सैनिक उस कोठरी की ओर देखते थे और आपस मे कानाफूसी करते थे। उन्हे भी पता न था कि यह नरक किस उद्देश्य से सुन्दर धरती की छाती पर बनाया गया है। दोपहरी को एक रथ आया जिस पर राज-चिन्ह चमक रहा था। रथ पर महामात्य वर्षकार था जो बड़ी तेजी से रुद्राक्ष की माला जप रहा था। वह स्थित-प्रज्ञ-संत की तरह रथ पर बैठा था। रथ आकर कोठरी के सामने रुका। दो सैनिक अधिकारियो ने आकर अभिवादन किया। वर्षकार ने चारों ओर निगाह डाल कर देखा और स्थान की उपयुक्तता ने उसे राक्षसी संतोष दिया। वह कोठरी उपयुक्त स्थान पर थी। अब वर्षकार ने दीवारो की जाँच की। अन्दर झाँक कर उसकी भयानकता को ध्यान पूर्वक देखा। उसके चेहरे पर

संतोष के भाव झलक कर विलीन हो गये। स्वयं कोठरी के भीतर घुसने का साहस वर्षकार में न था—वह दरवाजे पर से ही झांक कर भीतर देख रहा था। उसने अच्छी तरह कोठरी के फर्श को देखा जो बड़े छोटे अनगढ़ ढोकों का था। एक सैनिक को भीतर घुसने का आदेश दिया गया—वह किसी न किसी तरह दो चार कदम ही आगे बढ़ सका क्योंकि एक भी ढोका समतल न था जिस पर पैर जमाया जा सके। सैनिक ने लौटकर कहा—"इस कोठरी में चलना, बैठना और लेटना असंभव है, ढोके नुकीले और अनगढ़ हैं।"

दूसरी बार फिर वर्षकार का रूखा-सूखा चेहरा खिल उठा। उसने बड़े प्रयत्न से अपने भावों को दबाया। अब वह कोठरी की प्रदक्षिणा करने लगा। दो चार बार चारों ओर घूम कर चुपचाप रथ की ओर गया। सैनिक अधिकारियों को धीरे-धीरे आवश्यक आदेश देकर वर्षकार रथ पर बैठ गया।

दिन बीता और संध्या आई। कहीं से उड़ते हुए गीधों का एक झुंड आया और उस वृक्ष पर बैठ गया जो उस कोठरी से लगा हुआ था, उसकी डालियाँ कोठरी के ऊपर किसी पिशाच की बाहों की तरह फैली हुई थी—वह पीपल का पुराना वृक्ष था!

गीधों के अस्तित्व ने उस स्थान की भयानकता को और भी स्पष्ट कर दिया। सैनिकों ने जब यह दृश्य देखा तो उसका हृदय भी धड़क उठा। एक सैनिक ने दूसरे से कहा—"हम यह क्या देख रहे हैं?"

वह सैनिक सोचकर बोला—'सैनिकों का काम देखना नहीं, सुनना है—हमारे सेनाध्यक्ष क्या आदेश देते हैं, मैं इतना ही जानता सुनता और समझता हूँ।"

एक सैनिक इधर-उधर देखकर धीरे से—दाँत के सहारे बोला—"यह कोठरी किस अभागे का स्वागत करेगी?"

"पता नहीं"—दूसरे सैनिक ने जवाब दिया—"शायद सेनाध्यक्ष महोदय को भी कुछ पता न होगा। महामात्य आये थे देखने, इससे पता

चलता है कि बात गम्भीर है। कुछ भी हो हमें इससे क्या मतलब !"

"मतलब क्यों नहीं है—एक सैनिक बोल उठा—हम नागरिक भी तो हैं।"

सैनिक तर्क-वितर्क में लगे हुए थे कि एक रथ आया। उस रथ पर भी राज-चिन्ह अंकित था। उस रथ पर से देवदत्त उतरा। उसके साथ कुर्मायन था। देवदत्त उतरते ही गम्भीर स्वर में बोला—"सेनाध्यक्ष को उपस्थित करो।"

सैनिक एक दूसरे का मुँह देखने लगे—ऐसी भाषा में मगधेश्वर भी आदेश नहीं देते, यह कौन है भिक्षु ! क्षण भर प्रतीक्षा करके देवदत्त फिर दहाड़ उठा—"तुम सुनते नहीं क्या, सेनाध्यक्ष कहाँ है ?"

एक सैनिक ने हाथ के इशारे से एक ओर बतलाया तो देवदत्त का क्रोध भड़क उठा। वह पैर पटक कर गरजा—'यह कैसा अनुशासन है। मुझे—तुम लोगों ने कोरा भिक्षु समझ रक्खा है क्या ?" देवदत्त के स्वर में स्वर मिला कर कुर्मायन ने भी गरजना चाहा परन्तु वह जनाने स्वर में बोलने का अभ्यासी था। अतः उसका गरजना चीखने जैसा हुआ—सैनिक एक-दूसरे को देखकर मुस्करा उठे। सैनिकों ने जाकर अपने नायक को इस अनाहूत उपद्रव की सूचना दी। वह झल्लाया हुआ किन्तु दो जीवधारी भिक्षुओं को देखकर नरम पड़ गया और बोला—"आप क्या चाहते हैं।"

देवदत्त बोला—"मैं कारागार की जाँच करना चाहता हूँ। मगधेश्वर का यही आदेश है। जो बन्दी यहाँ आने वाला है वह बड़ा बलवान है।"

इतना बोलकर देवदत्त ने आदेश-चिन्ह सैनिक-नायक को दिखला दिया।

कारागार देखकर देवदत्त ने सन्तोष प्रकट किया और अपने धर्म सेनाध्यक्ष महास्थविराचार्य कुर्मायन से वह बोला—"अद्भुत है

आयुष्मान् । श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ स्थान चाहिये, उसके सम्मान के उपयुक्त।"

कुर्मायन धीरे ने बोला—"यह किस के लिए है—गौतम इसमें बन्द होंगे क्या ?"

देवदत्त चिल्लाया—"यदि बिना बोले रहा नहीं जाता तो जीभ काट कर फेंक क्यों नहीं देते।"

मन ही मन दो-चार भद्दी गालियाँ देकर कुर्मायन चुप लगा गया। वह देवदत्त को क्रोध से भर कर इस तरह देख रहा था जैसे छड़ी की चोट खाकर बन्दर मदारी की ओर देखता है।

देवदत्त झूमता हुआ रथ पर बैठा। जब देवदत्त रथ पर चढ़ने लगा तो रथ एक ओर दब गया। कुर्मायन धीरे से बड़बड़ाया—"साले के शरीर के भार से पापों का ही भार अधिक है।"

वह रथ भी घड़घड़ाता हुआ चल पड़ा और अन्धकार में छिप गया। उस डरावने कारागार के आस-पास फिर गहरी उदासी छा गई। धड़कते हुए हृदय से प्रहरी प्रतीक्षा करने लगे कि अब कौन आता है। धीरे-धीरे रात खिसकने लगी। आधी रात को एकाएक जोर से बिजली कौंधी, आँधी उठी और भीषण वर्षा शुरु हो गई। कड़कड़ाहट के साथ वृक्षों की डालियाँ जब टूटती तो वन में आतंक छा जाता। प्रहरी तूफान और हवा के झोंकों से अपने को भरसक बचाते हुए पहरा देने लगे। कारागार खाली था किन्तु सैनिकों का कड़ा पहरा उस पर था। ऐसा जान पड़ता था कि बहुत से लोग उसमें रहने के लिए, उसे अपने अधिकार में करने के लिए ललचा रहे हों और सैनिक उस अमूल्य-निधि की रक्षा में तत्पर हों।

धीरे-धीरे वर्षा का वेग बढ़ा और धरती से आकाश तक हाहाकार छा गया। तीन रथ इसी वर्षा के आवरण को चीरते-फाड़ते उस कारागार के सामने आये। घोड़े रह-रहकर भड़क उठते थे जिन्हें कुशल सारथी सम्भालते-सम्भालते थक गये थे। शंख बजाकर सभी सैनिकों को सूचना

दी गई। वे दौड़ते हुए आए और रथों को घेर कर खड़े हो गये। अन्धकार में आँखें गड़ा-गड़ा कर सैनिक देखना चाहते थे कि इन रथों पर क्या है, कौन है ?

अगले रथ पर से स्वयं मगधेश्वर अजातशत्रु उतरा। उनका शरीर लोहे के कवच से ढका हुआ था, उसके साथ अंगरक्षक के रूप में मगध सेना का महासेनाध्यक्ष भी कवचावृत नीचे उतरा। बीच वाले रथ पर से घसीट कर बिम्बसार को उतारा गया जिसे रस्सियों से कस कर बांध दिया गया था—वह वृद्ध सम्राट् हिल भी नहीं सकता था। दो सेनाधिकारी उसके पहरे पर थे, वे भी नंगी तलवारें लिए उतरे। बिम्बसार को मुर्दा की तरह उठा कर कीचड़ से भरी धरती पर, लापरवाही से रख दिया गया—वृद्ध सम्राट् अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते थे। जहाँ पर उन्हें सैनिकों ने रख दिया वहाँ पर पानी जमा हो गया था, कीचड़ भी थी और घास भी उगी हुई थी। बिम्बसार चुप थे, मानो मूच्छित हों या मर चुके हों। अजातशत्रु कुछ दूर पर हट कर खड़ा था। तीसरे रथ पर से वर्षकार और देवदत्त—दोनों कपड़े सम्भाल कर बहुत यत्न से उतरे।

वर्षकार ने आदेश दिया—"बन्दी का बन्धन खोल दो।"

देवदत्त चिल्लाया—"अरे बन्धन क्यों खुलवाते हैं महामात्य जी। इसी तरह डाल दो काल-कोठरी में।"

वर्षकार ने देवदत्त के विरोध की ओर ध्यान नहीं दिया—सैनिक काँपते हुए हाथों से अपने भूतपूर्व सम्राट् के बन्धन खोलने झुके। राजा के, वृद्ध राजा के शरीर से जब-जब सैनिकों की उँगलियाँ छू जातीं तो उन्हें ऐसा लगता कि जैसे विद्युत का स्पर्श कर लिया हो। यह बिम्बसार की अलौकिकता न थी किन्तु उन सीधे-सादे स्वामीभक्त सैनिकों की भावना थी। जिस शरीर की रक्षा के लिए, युद्ध में लाखों सिपाहियों ने बलिदान किया वह शरीर आज उनके सामने अपमानजनक स्थिति में

पड़ा था। राजा का आधा शरीर करीब-करीब पानी और कीचड़ में धँसा हुआ था। बिम्बसार आँखें बन्द किये लम्बी-लम्बी साँस ले रहे थे।

वर्षकार बोला—"उठा कर ऊँची धरती पर रक्खो। यहाँ कीचड़ और पानी है।"

दो सैनिकों ने गठरी की तरह उठा कर बिम्बसार को ऊँची धरती पर रक्खा। वे चुपचाप खड़े रहे। बड़े प्रयास के बाद बन्धन खुला। उनका शरीर बहुत जगह खोलने वालों के नाखूनों से छिल गया, खून निकलने लगा। बन्धन खुलने के बाद बिम्बसार बैठ गये—वे चुप थे। वर्षकार पीठ फेर कर खड़ा था और अजातशत्रु भी दूसरी ओर देख रहा था। केवल देवदत्त उल्का के प्रकाश में आँखें गड़ा-गड़ा कर बिम्बसार की ओर देख रहा था और मुस्करा रहा था। वर्षकार ने फिर आदेश दिया—"कारागार का द्वार खोलो और ....।"

देवदत्त ने इस वाक्य को इस तरह पूरा किया—"इस राजद्रोही को उठा कर भीतर फेंक दो।"

क्रोध से अधीर होकर वर्षकार बोला—"वाहियात बकवास बंद होना चाहिये।"

देवदत्त महामात्य के कड़े रुख से डर कर दो कदम पीछे हट गया। वर्षकार ने गम्भीर स्वर में आदेश दिया—"महाराज बिम्बसार को सादर कारागार के अन्दर पहुँचा कर दरवाजा बन्द कर दो।"

बिम्बसार उठ खड़े हुए और उसी शान से जिस शान से वे सभा में सिंहासन पर बैठने आते थे कारागार की ओर बढ़े। दरवाजा खोल कर सैनिक सिर झुकाये एक ओर हट गया। बिना पीछे मुड़ कर देख मगध साम्राज्य के महाशक्तिशाली शासक सम्राट् बिम्बसार सब कुछ गँवा कर चुपचाप घोर अन्धकार पूर्ण कारागार के भीतर चले गये।

इस कलंक पूर्ण नाटक पर काला पर्दा गिर पड़ा!

वर्षा ने और भी जोर पकड़ा। राजगृह अन्धार में डूब गया, किन्तु इतिहास उसे अपनी पैनी दृष्टि से देख रहा था!!!

पथ नहीं लक्ष्य

मानव को पथ नहीं लक्ष्य देखना चाहिए—ऐसा मत उनका है जो किसी भी उपाय से अपना काम निकालना ही परम धर्म मानते हैं। राजनीति के मैदान में या जरा सुन्दर भाषा मे कहना चाहे तो राजनीति के श्मशान मे बैठ कर जो शव-साधना करते है, मन्त्र सिद्ध करते हैं। वे कभी भी तरीकों की ओर ध्यान नही देते—वे सिद्धि पर ही नजर टिका कर आगे बढ़ते हैं। उनका लक्ष्य अधिक से अधिक शक्ति-प्राप्ति होता है, शक्ति भी ऐसी जो विध्वंसात्मक हो निर्माणात्मक नही। इस भयानक लक्ष्य की सिद्धि के लिए सौम्य साधनों से कैसे काम चल सकता है। अपने पिता को अजातशत्रु ने नरक-कुण्ड मे बद कर दिया वह अहिभय-न्याय के अनुसार और देवदत्त उसका दाहिना हाथ बना अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए। अजातशत्रु के भीतर जो धुँधली-सी तस्वीर थी जिसे वह स्पष्ट नहीं पाता था उसे देवदत्त ने प्रत्यक्ष कर दिया। यही कारण है कि अजातशत्रु देवदत्त की ओर खिंच गया। वर्षकार के सिर पर भी विपदा का पहाड़ टूट पड़ने को तैयार था जिसका अनुभव उस वृद्ध अनुभवी, धूर्त ब्राह्मण ने किया। यदि वह अजातशत्रु के भयानक विचारों का विरोध करता तो दोनों में खटपटी होती। मामला तूल पकड़ लेता, शायद जनता को इस उलझन मे हाथ डालना पड़ता, जो बुरा

होता। चालाक शासक कभी भी जनता को कुछ निर्णय करने का मौका नहीं देता। वे जनता के आगे पकी-पकाई रोटी ही रख देते हैं और कह देते है कि—खाना हो तो खाओ वरना भूखों मरो।

झगड़ा बढ़ा कर जनता को अन्तिम निर्णय के लिए पुकारना वर्षकार नहीं चाहता था अतः उसने धीरे से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए अजातशत्रु का साथ दे दिया। उसने इस उपाय से देवदत्त के अगले कदम को भी रोक दिया और अजातशत्रु के विचारों पर से अपने असर को मिटने से बचा लिया। वर्षकार ने अजातशत्रु को बदलने से अच्छा समझा अपने आपको बदल, देना जिसकी उसे दूसरे सभी कूट-नीतिज्ञों की तरह आदत भी थी।

बिम्बसार को कैद में डाल देने से न तो देवदत्त को शान्ति मिली और न अजातशत्रु का भय ही निर्मूल हुआ। दोनों अपने-अपने ढंग से भयाकुल थे और कुछ आगे बढ़ना चाहते थे। वर्षकार जानता था कि देवदत्त और अजातशत्रु के विचार मिलते हैं, इसी लिए दोनों 'मित्र' बने हुए हैं। ऐसे मित्र बहुत दिनों तक नहीं टिक रहते। मतलब सध जाने के बाद वे अनजानते ही पीछे हटने लगते हैं और अन्त में फिर अपरिचित से बन जाते हैं। माँझी और यात्री की "मित्रता" तभी तक रहती है जब तक तेज धाराओं पर नाव तैरती होती है। नाव किनारे लगी न कि दोनों ही दोनों को मन से भूल जाते हैं। वर्षकार इस प्रयत्न में बराबर रहता था कि देवदत्त अपने पंख फैलाता हुआ पूरे मगध साम्राज्य पर कहीं न छा जाय—वह उसे सीमा के भीतर रखने के लिए बद्ध-परिकर था जिसकी ओर न तो देवदत्त का ध्यान था और न अजातशत्रु का। वर्षकार अपने शासक की इच्छाओं का भार स्वयं वहन करने को उद्यत रहने लगा जिससे उसे दूसरे भार-वाहक की कभी आवश्यकता ही न पड़े। इस तरह वर्षकार देवदत्त की आवश्यकता को बराबर कम करता जाता था। जब बिम्बसार को कैद में डाल आया तो अजातशत्रु ने वर्षकार से कहा—"महामात्य जी, मेरा मन सदा व्यग्र रहता है। अब तो मुझे सुखी और

शांत रहना चाहिए।"

वर्षकार गम्भीर मुँह बना कर चुप रहा। उसकी यह चुप्पी अजातशत्रु के हृदय मे धड़कन पैदा करने वाली थी। वृद्ध महामात्य कुछ देर तक शून्य दृष्टि से खुले हुए बरामदे के बाहर की ओर देखता रहा और वह फिर कधो पर उत्तरीय सँभालता हुआ बोला— 'आज चौथा दिन है महाराज कैदखाने मे पड़े हैं। जनमत क्या है यह तो मैं नहीं बतला सकता किन्तु आप यह जान लीजिये कि जनता बहुत देर में गर्म होती है और फिर ठंडी भी देर मे ही होती है। आज देवदत्त के आने की बात थी मगर वे भी उलझनो मे फँस चुके हैं।"

अजातशत्रु उत्सुक होकर बोल उठा—"उलझन ? उन्हे किसने उलझनो मे फँसाया ?"

वर्षकार बोला—"शक्ति की उपासना करने वाला राजनीतिज्ञ कभी किसी दूसरे के जाल मे नही फँसता—जब कभी फँसता भी है तो अपने फैलाये हुए जाल मे। दूर तक देखने वाला राजनीतिज्ञ अपने पैरों के पास की खाई—खन्दक को नही देखता। देवदत्त का भी यही हाल हुआ चाहता है।"

अजातशत्रु खिन्न मन से बोला—"घटना जानना चाहता हूँ महामात्य जी।"

"घटना"—रूखे स्वर में वर्षकार कहने लगा—"देवदत्त तथागत का मूलोच्छेद करके अपने को ऊपर उठाने के लिए जोर लगाते रहते हैं। यह तो आप भी जानते ही होंगे।"

अजातशत्रु तेज आवाज मे बोला—"तथागत मेरे वैरी हैं, छिपे वैरी ! मेरे पिता को उन्होंने अपनी ओर खीचा; विमाता क्षेमा को अपनी दासी बनाने के बाद वैशाली वालों को बढ़ावा दिया। वे गृहत्यागी संन्यासी हैं तो उन्हे राजनीति से दूर रहना चाहिए। भिक्षु-संगठन एक जोरदार राजनीतिक-संगठन है। क्या आप इन्कार कर सकते हैं ?"

"इस विषय पर फिर कभी हम विचार करेंगे"—अनिच्छा-पूर्वक वर्षकार ने अपनी राय दी तो अजातशत्रु सहम कर चुप लगा गया। वर्षकार बोले—"मैं देवदत्त की बात कहना चाहता हूँ।"

इसी समय द्वारपाल ने सूचना दी कि 'देवदत्त पधार रहे हैं।'

वर्षकार चुप लगा गये और देवदत्त को अन्दर पहुँचा कर द्वाररक्षक चले गये। हाथी की तरह झूमते हुए देवदत्त आया और अपना भारी दाहिना हाथ उठा कर आशीर्वाद देने के बाद बैठ गया। बैठते ही उसने वर्षकार से सवाल किया—"महामात्यजी, मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि हजार-हजार नागरिक बन्दीगृह की ओर जाते हैं और बन्दीगृह के दरवाजे पर फूल-माला, धूप-नैवेद्य चढ़ा कर लौट आते हैं। वह स्थान देवस्थल माना जाने लगा है। यह तो बिम्बसार की लोकप्रियता बढ़ने का प्रमाण है। आप सोचिये कि क्या होना चाहिए।"

वर्षकार बोला—"इसे कौन रोक सकता है? जनता जिसे चाहे देवता बना दे जिसे चाहे पिचाश बना डाले, उस पर किसका वश चलता है।"

देवदत्त झुँझला कर कहने लगा—"आपने तो एक भाषण दे डाला। यदि कल जनता अपने ही हाथों से बन्दीगृह का द्वार खोल दे तो क्या होगा।"

मुस्कराकर वर्षकार ने कहा—"जन-शक्ति का ज्ञान आप को नहीं है क्या! क्या होगा यह तो स्पष्ट है। जनता के पास कोई बन्दीगृह नहीं है जहाँ वह हमें कैद करके रखेगी वह तो मार-कूट करके झमट खत्म कर देती है।"

देवदत्त काँप उठा। वर्षकार का मुस्कराना उसे अच्छा न लगा। अजातशत्रु का भी चेहरा उतर गया। देवदत्त अपने बिखरे हुए साहस को समेट कर फिर बोला—"तब तो हम सभी जनता के पैरों से रौंद डाले जायेंगे—आप क्या कहते हैं महामात्यजी।"

वर्षकार तेज आवाज में बोला—"ठीक ही तो कह रहा हूँ। इतिहास मेरी बातों को सिद्ध करता है।"

देवदत्त भी गरज कर बोला—'और ये सैनिक !"

वर्षकार गुस्से से उबल उठा और जवाब दिया—"सैनिकों के बल पर भी कहीं शासन किया जाता है। ये सैनिक भी तो जनता के ही आदमी हैं—हमारे आपके कौन हैं देवदत्त महोदय !"

इतना बोल कर वर्षकार ने अजातशत्रु की ओर देखा जो सिर झुकाकर पत्थर की मूर्ति बना बैठा था।

देवदत्त की भारी तोंद ऊपर नीचे हो रही थी और वह तेजी से अपना पोपला मुँह चला रहा था जैसे कुछ चबा रहा हो। उसकी गोल-गोल आँखें अपनी अन्तिम सीमा तक फैली हुई थी। वह कभी वर्षकार को और कभी अजातशत्रु को इस तरह देख रहा था जैसे जाल में फँसा शेर फँसाने वाले को भय और व्यर्थ रोष से भर कर देखा करता है।

वर्षकार उठ खड़ा हुआ और अजातशत्रु को लक्ष्य करके बोला—"मंत्री परिषद की बैठक होने वाली है मुझे आज्ञा दीजिये।"

मूक आदेश देकर अजातशत्रु ने ठंडी साँस छोड़ी और उदास दृष्टि से वर्षकार के अत्यन्त कठोर चेहरे की ओर देखा।

वर्षकार धीरे-धीरे चला गया।

देवदत्त का तब ध्यान भंग हुआ जब वर्षकार अपने रथ पर बैठ कर शायद खुली सड़क पर पहुँच गया था।

देवदत्त बोला—"ऐं महामात्य जी चले गये ?"

अजातशत्रु ने कोई उत्तर नहीं दिया तो फिर स्वर में नरमी लाकर देवदत्त बोला—"महाराज की सेवा में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।"

अजातशत्रु सजग होकर निवेदन सुनने के लिये बैठ गया तो देवदत्त बोलने लगा—"आखिर हम महाराज बिम्बसार को कब तक इस स्थिति में रखेंगे। धीरे-धीरे जन-सहानुभूति उन्हें प्राप्त होती जाएगी और बिना प्रयास के वे बलवान होते चले जाएंगे। बन्दीगृह उनके लिये वरदान बन

जाएगा। बहुत संभव है कि गौतम के लाखों अनुयायी भीतर ही भीतर महाराज बिम्बसार के लिये प्रचार भी कर रहे हों।"

अजातशत्रु बोला—"तो हम क्या करें। यदि उनका वध करा देते हैं तो भी बुरा होता है, कारागार में बन्द रखते हैं तो भी जनता की सहानुभूति गँवानी पड़ती है।"

देवदत्त कहने लगा—"जनता का नाम लेकर आपको डराया जाता है। आप जानते हैं, जनता विस्मृतिशील होती है। वह एक ही बात को पकड़ कर बहुत दिनों तक उस पर टिकी नहीं रह सकती। लहर की तरह वह उठती है और दूसरे ही क्षण गिर जाती है।"

अजातशत्रु को जैसे प्रकाश मिल गया। उसकी आँखें चमक उठीं। वह कुछ देर गम्भीर विचार में निमग्न रहा और फिर बोला—"यह बात सही है। जनता की पहली लहर को सँभालने की जरूरत है—उस लहर को जो शासन नहीं सँभाल सका वह मिट गया। तो अब यह हम तै कर लें कि किस उपाय से अपने गले की फाँसी से छुटकारा पावें।"

देवदत्त प्रसन्नता से फूल की तरह खिल उठा और बोला—"मैंने उपाय सोचा है महाराज, खून करने की जरूरत नहीं है और न शोर मचाने का ही काम है। आप महाराज बिम्बसार का भोजन बन्द कर दें—वे दस-बीस दिन में स्वयं धरती से विदा हो जाएँगे। किसी को पता भी नहीं चलेगा। मैंने तो अहिंसा-व्रत धारण किया है। तलवार उठाने की राय कभी नहीं दे सकता। रक्तपात एक भयानक पाप है—उफ्!"

देवदत्त ने ऐसा मुँह बनाया मानो रक्तपात की कल्पना करते ही उसका रोम-रोम कातर होकर सिहर उठा हो। अजातशत्रु के ललाट पर चिन्ता की रेखायें झलक कर विलीन हो गईं।

वह कहने लगा—"मैं एक व्यवस्था करता हूँ। महाराज को आप के अधिकार में छोड़ देता हूँ। आज से वे आपके बन्दी माने जाएँगे। आप

जैसा उचित समझें उनके सम्बन्ध में व्यवस्था करें—आप उन्हें मुक्त नहीं कर सकते, बस इतना ही अधिकार मेरा रहेगा।"

देवदत्त आनन्द विभोर होकर मन ही मन थिरक उठा—वह हाथ जोड़ कर बोला—"महाराज ने मुझ तुच्छजन पर बड़ा विश्वास किया। मैं तो दास हूँ। यह शरीर आपका है, आवश्यकता पड़ेगी तो अपने शरीर के रक्त की प्रत्येक बूँद आपके चरणों पर उत्सर्ग कर दूँगा।"

वह आनन्द के आवेग में और न जाने क्या-क्या बक गया। अजातशत्रु सुनता रहा और जब देवदत्त चुप हुआ तो वह बोला—"कल आप को मैं अधिकार-पत्र दिलवा दूँगा।"

इतना बोल कर अजातशत्रु उठ खड़ा हुआ। देवदत्त ने हाथ जोड़ कर पहली बार राजा को प्रणाम किया—वह सदा की तरह आशीर्वाद नहीं दे सका।"

देवदत्त अपने रथ पर बैठ कर उस बन्दीगृह की ओर चला जहाँ बिम्बसार बन्द थे। वह रथ पर बड़ी शान से बैठा था, उस की छाती तनी थी—ठीक मुर्गे की तरह और चेहरा जल रहा था, साँस जोर-जोर से चल रही थी। जो रास्ते में देवदत्त को इस तरह रथ पर बैठे देखते थे वे हँसते थे। किसी ने कहा—'पागल हो गया है' तो किसी ने कहा—यह भी एक ही मायावी है।' देवदत्त का रथ आगे बढ़ता चला गया।

अब उस के सामने बिम्बसार की छोटी काल-कोठरी थी जिस में महाराज बन्द थे। दोपहरी का समय था। सेनानायक देवदत्त को पहचानता था, उसने उसे रोका नहीं। वह रथ से उतर कर गम्भीरगति से बन्दीगृह के बन्द दरवाजे पर पहुँचा।

कोठरी के अन्दर बिम्बसार एक होके पर किसी न किसी तरह दीवार से पीठ लगाकर बैठे थे। उनके सामने वह मोखा था जिससे कुक्कुटपाद-गिरि नजर आता था, उस पहाड़ी पर बुद्धदेव वर्षावास कर रहे थे।

देवदत्त ने खाँस कर बिम्बसार का ध्यान खींचा। बिम्बसार अचल बैठे रहे। देवदत्त ने पत्थर का एक टुकड़ा लेकर सीखचों को खटखटाना शुरू किया किसी शरारती बच्चे की तरह। बिम्बसार ने ठीक सम्राट् की तरह गम्भीर स्वर में पूछा—"कौन है?"

रौब भी एक चीज होती है—देवदत्त का हृदय धड़क उठा और वह एक कदम पीछे हट गया। उसने अपने को सम्भाल कर कहा—"सो रहे थे क्या?" बिम्बसार ने कोई जवाब नहीं दिया तो देवदत्त मन ही मन क्रोध से तिलमिला उठा—मौत के मुँह में पड़े हुए इस अर्धमृत बुड्ढे में भी इतनी शान! वह बोला—"बोलते क्यों नहीं। छोटे आदमियों से बोलने से राज-सम्मान में बट्टा लगने का भय है क्या?"

बिम्बसार ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। इस बार देवदत्त जल-भुन कर राख बन गया। वह गरजा—"सिर पर काल नाच रहा है मगर ऐंठ नहीं गई।"

देवदत्त के मुँह से ऐसी बात सुनकर सेनानायक भल्ला उठा। एकाएक उसका दाहिना हाथ तलवार की मूठ पर चला गया। वह बोला—"सुनिये महाशय, बन्दीगृह में रहकर भी सम्राट्, सम्राट् ही हैं। आप उनका अपमान नहीं कर सकते। संयम भाषा काम में लाइये।"

देवदत्त चिल्लाया—"तुम पहचानते नहीं कि मैं कौन हूँ?"

सेनानायक आदेश देने वाले स्वर में बोला—"अब आप यहाँ पर नहीं रह सकते—चलिये।"

देवदत्त डर गया और नरम स्वर में बोला—"यह कैदी मेरा है, सम्राट् का आदेश मुझे मिल चुका है।" सेनानायक ने कहा—"स्वयं सम्राट् भी किसी सम्राट् का अपमान नहीं कर सकते—सिर उतार सकते हैं। हम सम्राट् के सेवक नहीं हैं, साम्राज्य के भी सेवक नहीं हैं, नियमों के सेवक हैं। बस, अब आप चले जाइये।"

देवदत्त क्रोध से दाँत पीसता हुआ अपने रथ की ओर लौट आया।

बिम्बसार चुपचाप बैठे कुक्कुटपाद-गिरि को देख रहे थे जिस पर

उनके शास्ता थे। वह मोखा इसी लिए था।

चलते-चलते देवदत्त बोला—"कल मैं सम्राट् का आज्ञापत्र लाकर तुम्हें दूँगा।"

सेनानायक बोला—"दीजियेगा किन्तु उसमें यह नहीं लिखा होगा कि आप आकर बन्दी-सम्राट् का अपमान किया करें। ऐसा आदेश कोई भी नहीं दे सकता—यह सैनिक-धर्म और परम्पराओं के विरुद्ध है। हम शत्रु के सम्मान की रक्षा करते हुए उसका सिर तराश लेते हैं। आप विदा हों।"

देवदत्त चला गया और चलते-चलते उसने ज्वाला भरी आँखों से पहले तो उस बन्दीगृह को देखा उसके बाद कुक्कुटपद-गिरि को जिस पर तथागत विहार कर रहे थे।

रथ जाने के बाद सेनानायक बन्दीगृह के दरवाजे के सामने जाकर खड़ा हुआ और सैनिक रीति से अभिवादन करके बोला—"महाराज को किसी वस्तु की आवश्यकता है?"

बिम्बसार ने बैठे ही बैठे जवाब दिया—"यदि महारानी आयें तो उन्हें यहाँ तक पहुँचा दिया जाय।"

सेनानायक अभिवादन करके चला गया। थोड़ी देर बाद एक रथ आया और महारानी क्षेमा नीचे उतरी। वे देखने में वृद्धा और थकी हुई सी जान पड़ती थी—कोटरगत आँखें, सूजी हुई पलकें, मैली साड़ी और रूक्ष बिखरे हुए बाल, शरीर आभरणहीन। वे सिसकती हुई रथ से उतरी और बन्दीगृह की ओर निःशब्द चली गईं।

धरती का स्वर्ग

वह स्थान जहाँ 'कुण्ठा' न हो वैकुण्ठ है, स्वर्ग है। धरती पर भी स्वर्ग हो सकता है और वहीं हो सकता है जहाँ कुण्ठा न हो, खींचतान न हो, सब, सब के लिए जो रहे हों, सब, सब के लिए मरने को तैयार हों।

हम वैशाली-गणतन्त्र की ओर जाना चाहते हैं जिसे धरती पर का स्वर्ग कहना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। सात हजार सात सौ सात सौ वहाँ 'राजन' थे। यानी सभी राजा थे या सभी प्रजा। इतनी ही संख्या में सत-मंजिले मकान थे और प्रत्येक महल के साथ बाग था—नजरबाग। वैशाली का गणतन्त्र एक पूर्ण संगठित गणतन्त्र था, गुलामी की तरह जनता के सिर पर ज़ोर-जबरदस्ती से लादा हुआ शासन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति उसको अपना समझता था, अपने अभ्युदय, श्रेय और सिद्धि का कारण रूप मानता था। उस गणतन्त्र में कोई हीन नहीं था, कोई उत्तम न था, किसी का अधिकार अधिक नहीं था, किसी की ताकत कम न थी। सत्रके द्वारा किया गया सब को मान्य होता था, कहीं विरोध नहीं था, कहीं उखाड़-पछाड़ न थी। वैशाली का प्रत्येक नागरिक अपने को प्रतिष्ठित मानता था और यह इस लिए कि वह एक सुगठित गणतन्त्र का अधिकार सम्पन्न नागरिक था। आज से १५०० साल पहले वैशाली-गणतन्त्र एक पूर्ण तथा आदर्श गणतन्त्र था जो अपने आप में

पूर्ण था और अपनी सीमाओं के भीतर पूर्णतः मजबूत था। जनता का दृढ तथा अजेय समर्थन उसे प्राप्त था तथा गणतन्त्र के संचालक जनता के लिए ही सोचा और काम किया करते थे—अपने लिए अलग से कुछ भी सोचने की वहां जरूरत ही न थी। सबके साथ ही सबका हित संभव था—वहाँ व्यक्ति नही समष्टि का आदर था।

जिस देश में देश से व्यक्ति बडा हो जाता है उस देश का भविष्य अन्धकार पूर्ण हो जाता है क्योंकि व्यक्ति तो आज है कल नही रहेगा किन्तु देश को तो रहना ही है। किसी क्षणभगुर आधार पर स्थाई वस्तु को टिका देने का परिणाम भयानक ही होता है। वैशाली गणतन्त्र मे ऐसी कोई बात न थी—वहाँ ७७०७ राजन थे—इन 'राजन' मे कोई 'महाराजा' न था। यही वैशाली गणतन्त्र की सब से बडी विशेषता थी, बहुत बडा गुण था।

शासन-संगठन भी बहुत ही ठोस था। वैदेशिक सम्बन्धो की देख-भाल के लिए एक समिति थी जिस मे ६ लिच्छवी सदस्य थे। संघ की सभा में ७७०७ सदस्य बैठते थे, इनमे से प्रत्येक 'राजा' कहलाता था। इनका 'अभिषेक' होता था, इसीलिए इन्हे राजा (अभिषिक्त राजन्य) कहा जाता था। राजा उपाधि संघीय संगठन की मूल आधार थी (राजा शब्दोप-जीवित ; कौटिल्य)। इनमे से कोई एक दूसरे से न तो छोटा माना जाता था और न बडा—प्रत्येक व्यक्ति अपने को पूर्ण शक्ति सम्पन्न राजा मानता था। (एकैक एवं मन्यते अह राजा अह राजेति—कौटिल्य)। एक "अष्टकुल सभा" थी जो न्याय के लिए उच्च समिति थी। कहने का तात्पर्य यह कि वैशाली गणतन्त्र एक इतना ठोस गणतन्त्र था कि उसमें जरा भी दरार न थी। जनता अपने गणतन्त्र के लिए सब कुछ खुशी-खुशी न्योछावर करती थी। उस पर न तो तलवार का दबाव था और न कानून का। संघ की सफलता शासन पर उतना निर्भर न थी, जितना कि जनता के चरित्र पर। संघ के अधिकारी और निवासी विलास और आलस्य से रहित थे। यह स्पष्ट है कि सघ का न तो एक

क्षण और न एक कण आलस्य या विलास में नष्ट होने पाता था। वे गद्दों पर नहीं सोते थे, लकड़ी के तख्ते पर सोते थे और लकड़ी का ही तकिया लगाते थे[1] क्योंकि वस्त्र उत्पादन उस पैमाने पर नहीं होता था और न वे अपने राज्य के बाहर से ही विलास के कपड़े खरीद कर राष्ट्र के धन को बाहर भेजते थे।

हम उपन्यास लिख रहे हैं अतः वैशाली की एक धुँधली तस्वीर आपके सामने उपस्थित करना हमारा उद्देश्य है। यह दुःख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि जो तस्वीर हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं वह काफी धुँधली पड़ चुकी है। जो देश अपने गौरवपूर्ण इतिहास की ओर से विमुख हो जाय उसकी रक्षा कौन कर सकता है। हाँ, तो तरीका यह था कि वैशाली-गणतंत्र की संघ-सभा में बहुत सी राजनैतिक पार्टियाँ थी और प्रत्येक दल के सदस्य अपना अलग रंग पसन्द करते थे—वस्त्र, रथ, शरीर पर के रत्न सभी एक ही रंग के होते थे। किसी का रंग हरा था तो किसी का लाल। जनता में भी वे पहचाने जाते थे अपने जुदे-जुदे रंग से। उनमें मतभेद भी होता था किन्तु जो निर्णय बहुमत से होता था उसे सभी सिर झुका कर स्वीकार कर लेते थे और उसी के अनुसार आचरण करते थे। बहुमत का निर्णय सर्वमान्य था।

वैशाली वाले विद्वानों और वृद्धों का बड़ा आदर करते थे। पूजा-स्थानों और स्त्रियों का अशेष सम्मान था। छोटी-छोटी बातों के लिये भी सभी जमा होते थे, अपने-अपने विचार उपस्थित करते थे और जो अन्तिम निर्णय होता था उसे सहर्ष स्वीकार कर के काम में जुट पड़ते थे। मतभेद तभी तक रहता था जब तक बहुमत का फैसला सामने नहीं आता था—निर्णय हो जाने के बाद उसका विरोध करना राज्यद्रोह था और ऐसे द्रोह के लिए भयानक से भयानक दंड व्यवस्था भी थी। जिस दिन की चर्चा हम करने जा रहे हैं उस दिन कोई राष्ट्रीय त्योहार

१. हिन्दू सभ्यता (डा० राधाकुमुद मुकर्जी) पृ० २०३

था। 'नगर-कल्याणी'[1] इस त्योहार का उद्घाटन अपने नृत्य और गीत से करने वाली थी। नगर-कल्याणी या जनपद-कल्याणी को एक नजर देखने के लिये भीड़ उमड़ रही थी, तरह-तरह के वाहनों पर राष्ट्रीय रंगशाला की ओर लोग जा रहे थे। कई दिनों से घर-घर में यह चर्चा थी कि अमुक दिन जनपद-कल्याणी जनता के सामने नाचेगी और गाएगी।

जनपद-कल्याणी के प्रति सब के हृदय में सम्मान के भाव थे क्योंकि वह राष्ट्र की कलात्मक-निधि थी, वह साधारण नर्तकी या गायिका न थी। भीड़ उमड़ती हुई चली गई और राष्ट्रीय रंगशाला में जन-समुद्र उमड़ पड़ा किन्तु सभी चुप थे, शान्त थे और अपनी-अपनी जगह पर बैठे आकुल हृदय से उस ओर देख रहे थे, उस सजे हुए मंच की ओर देख रहे थे जिस पर जनपद-कल्याणी को आकर उस राष्ट्रीय महोत्सव का मंगलमय उद्घाटन करना था। संगीत की अमर लहरियों के द्वार महोत्सव का उद्घाटन कब होगा, इसकी प्रतीक्षा दर्शक व्यग्र हो, कर कर रहे थे। समय आगे की ओर खिसकता हुआ जा रहा था। सोने और रत्नों तथा फूलों से अलंकृत उस मंच पर वाद्ययन्त्रों के साथ वाद्य-विशारद आये और फिर पायल की झंकार भी सुन पड़ने लगी।

१. इसे 'जनपद-कल्याणी' कहा जाता था। बौद्ध जातक (तेलपत्त जातक ९६) में जनपद-कल्याणी की चर्चा आई है। जनपद-कल्याणी न अधिक मोटी हो न दुबली और न काली ही हो, गोरी भी बहुत न हो—उसके शरीर में चमक हो। उसके होंठ, हाथ, पैर के तलवे लाख के रंग की तरह लाल हों। उसकी नसें देखने पर दूध की धार के समान दिखाई पड़ें। उसके दाँत चमकदार हों और शरीर का गठन ऐसा हो कि २० साल की उम्र होने पर भी १६ साल से अधिक उम्र वाली न जान पड़े। वह नृत्य और संगीत में सर्वश्रेष्ठ हो, दर्शकों और श्रोताओं को पागल बना देने की क्षमता उसमें होना जरूरी है। वह अपनी इच्छा से न गाये और न नाचे—विशेष अवसर आने पर ही जनपद-कल्याणी गाये या नाचे।

साँस रोक कर जनता देखने लगी मंच की ओर। पायल की श्रुति मधुर तथा उन्मादक झंकार क्रमशः स्पष्ट सुनाई देने लगी। वाद्य-विशारदों में सतर्कता की लहर सी फैल गई। वे अपना-अपना वाद्य-यंत्र लेकर मानों सजग हो कर बैठ गये। पायल की झंकार अब और अधिक स्पष्ट सुनाई देने लगी। लोग आँखें मल-मल कर मंच की ओर देखने लगे। एक-एक पल भारी पड़ रहा था, एक-एक क्षण का बीतना कठिन जान पड़ता था। एकाएक पीछे की यवनिका उठी और हजारों जोड़ी उत्सुक आँखों ने देखा—जनपद-कल्याणी जनता को हाथ जोड़ कर प्रणाम कर रही है। उसका हाथ जोड़ना, चेहरे पर श्रद्धा के भाव लाना, झुकना और फिर धीरे-धीरे सीधे खड़ा हो जाना भी कला का एक अत्यन्त मधुर प्रदर्शन ही था। इतने ही से जनता आनन्द विभोर हो गई और बहुतों ने अपनी सुध-बुध भी गंवा डाली।

जनपद-कल्याणी ने मुस्करा कर सब तरफ देखा। वह मंच के अन्तिम छोर पर चली आई और फिर अत्यन्त कमनीयता के साथ, जनता की तरफ बिना पीठ दिये पीछे हट कर उस ने नाचना आरम्भ कर दिया। उस के दोनों सुन्दर लाल-लाल चरण पहले तो धीरे-धीरे उठ रहे थे, उस के बाद उन में गति आई। देखने वालों को यह विश्वास हो गया कि जनपद-कल्याणी हवा के स्तर पर नाच रही है।

जनपद-कल्याणी के शरीर पर केवल फूलों का शृङ्गार था—रंग-बिरंगे फूलों का। अङ्गों के अनुसार फूलों का चुनाव किया गया था। काले बालों के फूलों का रंग सफेद था तथा कर्णफूल के लिए नीले—किस अङ्ग में किस रंग के फूल की शोभा अङ्ग की शोभा के साथ मिल कर चमत्कार पैदा कर सकेगी, इसका पूरा-पूरा ख्याल रक्खा गया था, जनपद-कल्याणी के शृङ्गार करने में।

एक घण्टा से कम वह नाची और जैसे ही उस ने बैठ कर वीणा को अपनी गोद में रक्खा, दर्शकों में बेचैनी सी फैल गई। बहुत से व्यक्ति चुपचाप भीड़ में घुस कर कानों-कानों में यह सम्वाद देने लगे कि मगध

की सेना गंगा पार कर रही है। यह सम्वाद जनपद-कल्याणी को भी बहुत ही सावधानी से दिया गया। वह क्षण भर के लिए उदास हो गई किन्तु तुरत खड़ी होकर बोली—"सुना है अपने राष्ट्र पर संकट आने वाला है। यह मेरा नृत्य विजय यात्रा के पहले का नृत्य है। अब मैं अपना विजय-गीत तब सुनाऊँगी जब हमारा राष्ट्र विजयी हो कर फिर इस रंगशाला में पूर्ण गौरव के साथ उपस्थित होगा।"

इतना बोल कर जनपद-कल्याणी ने हाथ जोड़ कर जनता का सादर अभिवादन किया। जैसे लोग पूर्ण शान्ति के साथ रंगशाला में आये थे उसी तरह विदा हो गये। न शोर गुल मचा और न धक्का मुक्की हुई। जनता आई थी आनन्द के हिलोरों में झूमती हुई, और विदा हुई जोश में भरी हुई—बढाई करने वालों को अच्छी शिक्षा देने के लिये।

कोई किसी से पूछता न था कि 'अब क्या होगा' क्योंकि प्रति व्यक्ति का कर्तव्य निश्चित था प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि ऐसे अवसर पर उसे क्या करना चाहिये, अतः सर्वत्र शान्ति थी। दूकानें खुली थी आने जाने वालों की भीड़ भी पथों पर थी, पर सभी कठोर गम्भीर मुद्रा में थे। संकट के अवसर पर श्रेष्ठ राष्ट्र का चरित्र और भी दृढ़ हो जाता है क्योंकि वह बाहर से संगठित तो रहता ही है भीतर से भी संगठित हो जाता है, यानी वह अपने आपको ठोस बना लेता है। सुख के दिनों में जो ढिलाई पैदा हो जाती है, लापरवाही पैदा हो जाती है, संकट की भनक मिलते ही श्रेष्ठ राष्ट्र की ढिलाई और लापरवाही क्षण भर में गायब हो जाती है—वह अपने आप को अपने भीतर इतने जोर से समेट लेता है कि बाहर का विकार उसके भीतर प्रवेश ही नहीं कर सकता।

वैशाली का रंग देखते-देखते बदल गया। आप से आप राग-रंग स्थगित हो गये, मद्यशालायें बन्द हो गईं, खेल-तमाशे रुक गये। वैशाली का प्रत्येक नागरिक जैसे कर्तव्य की अत्यन्त कठोर भूमि पर छलांग मार कर खड़ा हो गया और किसी भी स्थिति का सामना करने को तैयार हो गया मगर अचरज यह कि किसी के चेहरे पर भय, चिन्ता

या उत्तेजना की झलक भी देखने में नहीं आई। स्वाभाविकता बनी रही, शान्ति बनी रही, स्थिरता बनी रही किन्तु दिशा बदल गई। आमोद प्रिय नागरिक शस्त्र-धारी योद्धा बन गये। शासन-सभा की बैठकें होने लगीं और उसके सदस्य अपनी-अपनी पार्टी से ऊपर उठ कर सोचने लगे कि अपने गणतंत्र पर आया हुआ यह संकट कैसे टले और किस उपाय से जन-धन की कम से कम हानि राष्ट्र को सहनी पड़े।

लगातार खबरें आ रही थीं, राजगृह से लौट कर वैशाली तक जैसे गुप्तचरों का तांता बँधा था। अजातशत्रु क्या कर रहा है, वर्षकार क्या व्यवस्था कर रहा है, मगध सेना का सेनाध्यक्ष कौन है, वह किस आचार विचार और संस्कार का व्यक्ति है, इत्यादि बातों की सही-सही खबरें तुरन्त-तुरन्त आने लगी और वैशाली गणतन्त्र के महामन्त्री धर्मेश्वर प्रत्येक संवाद की जाँच गहराई से करने लगे। गणतन्त्र के अध्यक्ष थे नीतिरक्षित। नीतिरक्षित शाक्य-वंश के एक अत्यन्त धीर और मेधावी व्यक्ति थे। धर्मेश्वर ब्राह्मण था। वह महा विद्वान् और निष्ठावान् ब्राह्मण था तथा स्वयं एकान्त स्थान में कुटिया में रहता था। वह पहले तक्षशिला महाविद्यालय का आचार्य था। धर्मेश्वर नैष्ठिक ब्रह्मचारी और प्रौढ़ व्यक्ति था। जनता में उसका विशेष सम्मान था। उस ऋषि-तुल्य महामन्त्री के पीछे आँखें बंद करके वैशाली की जनता दौड़ती थी। शासन-सभा का प्रत्येक सदस्य अपने महामन्त्री का रुख देख कर बोलता था किन्तु धर्मेश्वर ने अपने आपको कभी भी औसत से ऊपर उठने नहीं दिया। वह न तो अपने को और न अपने विचारों को किसी पर लादता था और न कभी यही सोचने का अवसर देता था कि वह वैशाली-गणतन्त्र का एकमात्र रक्षक और त्राता है। उसे श्रेष्ठत्व से घृणा थी, वह चाहता था कि सारा राष्ट्र श्रेष्ठत्व प्राप्त करे या श्रेष्ठत्व-अर्जन करे। बँटवारे में जितनी श्रेष्ठता सब के हिस्से में पड़े उतनी ही श्रेष्ठता उसके लिए पर्याप्त है। यही कारण है कि धर्मेश्वर वैशाली के प्रत्येक नागरिक का अपना था, भाई, पिता, पुत्र जैसा था—महामहिमामय शासक वह न था। वह

कहा करता था कि गणतन्त्र मे कोई भी श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता, सभी को साथ-साथ ऊपर उठना है, साथ-साथ फूलना-फलना है। गणतन्त्र एक विशाल परिवार है, जिसका प्रत्येक सदस्य बराबर-बराबर अधिकार रखता है।

धर्मेश्वर अध्यक्ष के निकट गये। अध्यक्ष ने उठ कर उस ऋषि का स्वागत किया। सध्या का समय था और देवस्थानों से शख-घटे की आवाज़ आ रही थी।

अध्यक्ष नीतिरक्षित ने मुस्करा कर पूछा—"आचार्य, मैं केवल एक बात जानना चाहता हूँ।"

धर्मेश्वर ने गम्भीर स्वर मे पूछा—"कहिए।"

नीतिरक्षित कहने लगा—"मेरा ऐसा विश्वास है कि किसी भी सकट से जनता स्वयं उबरती है, राज्य केवल ऊपर-ऊपर से सहारा देता है।"

धर्मेश्वर ने सोच कर जवाब दिया—"मैं समझ गया। हमारी जनता का चरित्र अत्यन्त दृढ है, चट्टान की तरह ठोस है। चिंता का कोई कारण नही है। जनता का उच्च चरित्र-बल ही उसे आपदाओं से बचाता है। जनता का चरित्र बल यदि नष्ट ही जाय तो किसी भी शासक मे इतनी शक्ति नही है जो सेना लेकर उसकी रक्षा कर सके। हीन-चरित्र वाली जनता अपने आपको ही चबा डालती है, वह भेडियों का झुण्ड मात्र है। ऐसी जनता पर शासन करना है अपनी जान को हर घडी सकट मे फँसाये रहना।

नीतिरक्षित का चेहरा आनन्द से खिल उठा - "आचार्य, हमारे महान् गणतन्त्र की जनता स्वय अपने गणतन्त्र की रक्षा करने की शक्ति रखती है?"

धर्मेश्वर ने जोर देकर कहा—"आपके मन में जनता के प्रति अविश्वास कैसे पैदा हो गया। मुझे तो दुःख हो रहा है। कोई भी शक्ति ऐसी नही है जो वैशाली की जनता को पीछे धकेल सके। यह गणतन्त्र न तो आपका

है और न सात हजार सात सौ सात राजन् का। यह गणतन्त्र जनता का है, वही उसकी रक्षा कर रही है, करेगी। हमारी जनता का राष्ट्रीय चरित्र अत्यन्त ऊँचा है साथ ही उसका सामाजिक चरित्र भी अभिनन्दनीय है। जो जनता स्वयं अपने ऊपर शासन करना जानती है उसके लिए किसी भी प्रकार के शासन-यन्त्र की आवश्यकता नहीं है। यदि हम न भी रहें तो भी हमारा गणतन्त्र इसी तरह कायम रहेगा—यह मेरी दृढ़ धारणा है।"

नीतिरक्षित अपने सफेद बालों वाले सिर पर हाथ फेरते हुए परम-संतोष पूर्वक कहने लगा—"इस बार मगधराज ने सँभल कर आक्रमण किया है, आपको तो ज्ञात ही होगा। अजातशत्रु चाहता है कि यह गणतन्त्र नष्ट हो जाय और अधिनायक-तन्त्र की स्थापना हो।"

धर्मेश्वर हँस पड़ा और बोला—"बाहर के आक्रमण से सच्चा गणतन्त्र नष्ट नहीं किया जा सकता। जब भीतर से उसकी जड़ें खोखली की जाती हैं तब वह टूट कर बिखरने लगता है। हमारा गणतन्त्र बिल्कुल ठीक है। हमारे नागरिकों का चरित्र ऊँचा है तो फिर हम क्यों आक्रमण की चिंता करें अध्यक्ष महोदय।"

नीतिरक्षित का चेहरा चमक उठा। उसने कहा —"आज सभा की बैठक में आप तो उपस्थित थे ही। हम कुछ राजाओं में निराशा क्यों पाते हैं, वे कुछ ऐसी बातें बोल रहे थे जैसे इन आक्रमण की खबरों ने उन्हें विचलित कर दिया हो।"

धर्मेश्वर बोला—"मैं कहता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मानव कभी भी एक स्तर पर टिका नहीं रह सकता—कभी नीचे कभी ऊपर आते-जाते रहना उसका स्वभाव-सिद्ध व्यापार है। हमारा काम है अपने नागरिकों को नीचे उतरते ही फिर खींच कर ऊपर पहुँचा देना। उन्हें नीचे उतरने से रोका नहीं जा सकता। नेता का काम होता है बराबर जनता को ऊँचे स्तर पर टिके रहने के लिए उत्साह और प्रेरणा प्रदान करते रहना।"

नीतिरक्षित का हृदय संतोष से भर गया। इसी समय एक दूत आया और उसने खबर दी कि सेना का भारी जमाव पाटलिग्राम में हो रहा है। पाटलिग्राम का निर्माण ही इसी उद्देश्य से किया गया था कि वहाँ से वैशाली पर आक्रमण करने मे सुविधा हो। पाटलिग्राम गंगा-सोन के बीच मे बसा था (आज भी बसा है यद्यपि सोन दूर खिसक गया है)। दूत ने कहा, "हजारो की संख्या मे नौकायें तैयार हैं। जल-युद्ध के लिए विशेष रूप से सैनिको को शिक्षा दी है, ताम्रपर्णी* मे जो एक बन्दरगाह है। दूत ने यह भी कहा कि इस बार युद्ध काफी दिनो तक चलाया जायगा जिससे वैशाली की जनता ऊब जाय, तबाह हो जाय और अपने नेताओं के विरोध मे विद्रोह कर दे। धन और जन का नाश, वह भी वर्षों तक—जनता कैसे सहन कर सकेगी। यह झुकेगी, थक जाएगी और उसका स्तर नीचे गिर जाएगा।"

दूत ने अन्त मे कहा कि—"पाटलिग्राम से ही आ रहा हूँ। अजातशत्रु का महामात्य वर्षकार पाटलिग्राम मे ही टिका हुआ है। वह संत जैसी मुखाकृति वाला वृद्ध ब्राह्मण किसी भी राक्षस से कम मायावी नही है। देवदत्त भी उसका सहायक बना हुआ है जो मानव रूप मे साक्षात् पिशाच है।"

आचार्य धर्मेश्वर ने दूत को आदरपूर्वक विदा किया और राष्ट्र सेवा की प्रशंसा की। दूत से चलते समय महामन्त्री ने पूछा कि क्या मगध राज्य की जनता अपने सम्राट् की इस नीति को पसन्द करती है?

दूत बोला—"महोदय, गुलाम जनता के समर्थन या विरोध का क्या मूल्य होता है यह आप जानते हैं। मगध की जनता क्या स्वतन्त्र है?"

महामन्त्री ने कहा—"दूत प्रवर, तब हम क्यो चिन्ता करें। पराधीनो मे आत्मबल और नैतिक साहस का अभाव होता है और जिस

---

*ताम्रपर्णी—वर्तमान पश्चिम बंगाल का 'तामलुक'-परगना। बौद्ध-युग में यह एक श्रेष्ठ बन्दरगाह था। —लेखक

देश की जनता में आत्मबल या नैतिक साहस नहीं होता उस देश की जनता को पैसा या पद का लोभ दे कर आसानी से खरीदा जा सकता है। हम मगध के राजा से नहीं डरते—वहाँ एक राजा है, हमारे गणतन्त्र में सभी राजा-महाराजा हैं, कोई किसी का गुलाम नहीं है।"

दूत प्रणाम कर के विदा हो गया तब नीतिरक्षित ने कहा—"आप का कथन ठीक है। हम भी स्वागत-सत्कार की तैयारी करें—वे आते हैं तो आवें।" धर्मेश्वर मुस्करा कर चुप लगा गया।

राज्य की सीमा पर सेना भेज कर ही धर्मेश्वर आया था अध्यक्ष से आदेश प्राप्त करने। वह जनता के साहस और बल को जानता था—उसे भय न था, चिन्ता न थी। वह जनता का आदमी था, जनमत की नब्ज उस के हाथ में थी। परिस्थिति पैदा करना, उसे अपने उपयोग में लाना और फिर समाप्त कर देना धर्मेश्वर के लिए कोई बड़ी बात न थी। वह कभी समय की प्रतीक्षा नहीं करता था, समय उसके इशारे पर आगे बढ़ता था, पीछे खिसकता था। वह ब्राह्मण एक महान् गणतन्त्र का महामन्त्री था।

वैशाली में तो यह हो रहा था और उधर राजगृह के एक एकान्त कक्ष में बैठ कर देवदत्त अजातशत्रु को समझा रहा था कि जब तक बिम्बसार जीवित है किसी भी हालत में वैशाली पर आक्रमण करना उचित नहीं कहा जा सकता। अजातशत्रु बोला—"यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ। अच्छा हो कि राजा को प्राण दण्ड दे कर हम भार मुक्त हो जायें।"

देवदत्त दोनों हाथ से कान बन्द करके चीख उठा—"रक्तपात, हिंसा, हत्या, मैं इस योजना का विरोधी हूं।"

अजातशत्रु घबरा उठा जैसे उसने कोई भयानक पाप कर दिया। वह बोला—"तो आप ही कोई रास्ता बतलावें।"

देवदत्त शान्त हो कर कहने लगा—"अन्न-जल बन्द कर दीजिये। रक्तपात भी नहीं होगा और.....................।"

धर्म की पुकार

हजारों गृहत्यागी भिक्षुओं का रहना होता था जेतवन में। मील भर में छोटे-छोटे झोंपड़े फैले हुए थे जिनमें भिक्षु रहते थे। मनोरम बाग था और ऋतु के अनुकूल फूल-फल की कमी न थी। इन झोंपड़ों के एक किनारे भगवान् बुद्ध की कुटिया थी जिसे "मूलगन्ध-कुटीर" कहा जाता था। यह कुटिया काफी लम्बी-चौड़ी थी और इसके आँगन में दो चार हजार भिक्षु और भक्त प्रायः एकत्र होते ही रहते थे।

भगवान् बुद्ध राजगृह की कुक्कुटपाद-गिरि पर वर्षावास कर रहे थे, अतः यह कुटिया जनहीन थी। फिर भी इसकी रक्षा भिक्षुओं का एक दल करता था। रात को प्रदीप का सुखद प्रकाश कुटिया के कोने को उद्भासित करता रहता था। दिन को फूलों और मालाओं से कुटिया सजाई जाती थी। बुद्धदेव के आसन पर फूलों का अम्बार लगा होता था—बाहर से आने वाले भक्त पुष्पांजलि अर्पण कर के अपनी श्रद्धा-भावना को चरितार्थ करते थे। बुद्धदेव के साथ कुक्कुटपाद-गिरि पर थोड़े से चुने हुए ज्ञानी, तपस्वी, विद्वान् भिक्षु थे क्योंकि स्थान थोड़ा ही था।

भिक्षुओं की इस बस्ती से कुछ दूर हट कर भिक्षुणियों के आवास बने थे। छोटे-छोटे घर थे जिन में भिक्षुणियाँ रहा करती थी और आत्मोद्धार

के लिए कठोर तपस्या करती हुई जीवन व्यतीत करती थीं। उनमें *नवयुवती, युवती, प्रौढ़ा, वृद्धा सभी तरह की भिक्षुणियाँ थीं—* अधिकांश भिक्षुणियाँ शाक्य वंश की ही क्षत्राणियाँ थीं!

नियम ऐसा था कि भिक्षुणियों की बस्ती की ओर कुछ वृद्ध स्थविरों को छोड़ कर और कोई नहीं जाता था और न भिक्षुणियाँ भिक्षुओं के झोंपड़ों की ओर आती थीं। शील का पूरा-पूरा पालन किया जाता था। शील को दे देने के बाद न केवल बौद्ध-धर्म में ही बल्कि संसार के किसी "सभ्य धर्म" में कुछ भी नहीं शेष बचता। सभी भिक्षु और भिक्षुणियाँ शील का आदर प्राण देकर भी करती थीं। शील का उल्लंघन अक्षम्य अपराध माना जाता था। जीवन में अराजक-भावना को स्थान देने का परिणाम विनाश होता है। जो जितना ऊपर उठना है वह उतना ही आत्म-नियन्त्रण के कठोर बन्धनों में बँधता जाता है, ठीक इसके विपरीत मानव का पतन होता है और ऐसा पतन होता है कि वह कहीं का भी नहीं रह जाता—न धरती के योग्य और न नरक के योग्य!

भिक्षुओं का जीवन शील के शिकंजे में कसा होता था क्योंकि उन्हें ऊपर उठना था, इस धरती से ऊपर, स्वर्ग से भी ऊपर निर्वाण-पद के लिए।

एक रात को काली-काली घटायें खुल कर बरस रही थीं। तूफान हाहाकार कर रहा था और हाथ पसारे सूझता न था।

सभी झोंपड़ियों से कुछ हट कर पंचवटी की छाया में एक छोटी सी झोंपड़ी थी जो अत्यन्त सुन्दर और खिलौने की तरह थी। हरी-हरी लताएँ उस कुटिया पर फैली हुई थी, फूलों से भरी हुई मालती लता की शोभा विचित्र थी। कुटी के बाहर भी फूलों के छोटे पौधे एक सिलसिले से लगे हुए थे। ऐसा जान पड़ता था कि कुटी के भीतर जो भिक्षु रहता है उसके सामने जीवन की कोई खूबसूरत तस्वीर भी है, वह दूसरे भिक्षुओं की तरह संसार से, धरती से ऊबा नहीं है। वह इस धरती को 'सुन्दर' मानता है और यह भी मानता है कि बाह्य-सौन्दर्य को अपने

भीतर लाकर अपने मन-प्राण को भी सुन्दर बनाया जा सकता है। वह ज्ञान की आंखों से संसार का केवल डरावना और घिनौना कंकाल ही नहीं देखता था बल्कि उसके लुभावने रूप को भी देखता था, देखा करता था।

उस भिक्षु का नाम था—"शीलभद्र"।

शीलभद्र एक सुन्दर, सुगठित अगो वाला पूर्ण युवक भिक्षु था जिसने तक्षशिला मे ऊँची शिक्षा पाई थी और वैशाली के महामन्त्री धर्मेश्वर के आश्रम मे रहकर उसने स्थानक्पद प्राप्त किया था—उन दिनों धर्मेश्वर तक्षशिला के आचार्य थे। हम आगे कह चुके हैं। शीलभद्र उन्ही का शिष्य था। रात आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी किन्तु शीलभद्र की आँखो मे नीद न थी—वह कभी उठ कर टहलता तो कभी खडा होकर चिन्ता मे डूब जाता—उसकी आँखे मानों शून्य मे कुछ खोजती किन्तु प्रकाश दिखलाई नही पडता। शीलभद्र की विकलता बढती गई उसकी छटपटाहट ने सीमा पार कर ली तो वह एक बार मेघाच्छन्न आकाश की ओर देख कर कुटी से बाहर निकला। भादों की रात ने ससार के सभी रगो को लीप-पोत कर बराबर कर दिया था, एक काला रग ही उसने शेष छोडा था जो उसका अपना रग था। हम यों कह सकते हैं कि भादों की रात ने दुनिया को सच्चे अर्थो में अपने मे रंग दिया था। धरती से आकाश तक अन्धकार मानो ठूंस-ठूंस कर भरं दिया गया था। शीलभद्र मुस्कराया। सुन्दर दन्त-पक्तियाँ चमक उठी और उसका चेहरा और भी सुन्दर हो गया।

शीलभद्र ने बाहर निकल कर एक बार आसमान की ओर देखा—उस के यौवन से भरे चेहरे पर पानी की एक हल्की फुहार पड़ी—घटायें मानो उससे मजाक कर रही हो। वह अपने हाथो से चेहरा पोंछ कर फिर कुटिया के अन्दर चला आया। वह टहलने लगा और उसका इस तरह टहलना बतलाता था कि उसके भीतर विचारों का जोरदार तूफान उठ रहा है जिसे वह संभाल नहा पाता और इधर से उधर धक्के खा रहा है।

शीलभद्र टहलता-टहलता रुका क्योंकि एक दूसरा भिक्षु अन्धकार की चादर ओढ़े उसकी कुटिया की तरफ बढ़ रहा था। आँखों में मन को एकाग्र करके शीलभद्र अन्धकार के पर्दे के उस पार देखने का प्रयास करने लगा, भौहों और आँखों को सिकोड़ कर कुछ क्षण शीलभद्र बाहर की ओर देखता रहा और फिर धीरे से बोला—"यक्षदत्त ! ठीक है—समय पर ही आया।'

भीगा हुआ एक दूसरा नवयुवक भिक्षु छाया की तरह निःशब्द शीलभद्र की कुटिया मे घुसा। वह यक्षदत्त था ! शीलभद्र कुछ शान्त हो गया। दरवाजा तो था ही नहीं—बाँस की टाटी थी जिसे बन्द कर के दोनों बैठकर कुछ एक दूसरे के बोलने की प्रतीक्षा करते रहे—हार कर यक्षदत्त ने मुँह खोला—"कुछ नई खबर जानते हो ?"

शीलभद्र कुछ आगे खिसक गया और बोला—"नहीं तो।"

बैठे ही बैठे चारों ओर अच्छी तरह देखकर—आँखों से टटोलकर यक्षदत्त बोला—'वैशाली पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी की जा रही है। देवदत्त भी इस गंदे काम में उत्साह दिखला रहा है।"

शीलभद्र ने कहा—'गंदा आदमी गंदे काम मे ही रस लेता है। गलीज पर भौंरे नहीं गूँजते, सूअरों का ही आक्रमण होता है।"

"ठीक कहते हो"—यक्षदत्त बोला—भिक्षु का चीवर पहन कर मैं घूमता हूँ और यह जानना चाहता हूँ कि जनता इस युद्ध का समर्थन करती है या नहीं ?"

शीलभद्र ने कहा—"देखने मे मगध साम्राज्य की प्रजा स्वतन्त्र है मगर है वह प्राधीन—हाँ, कुकर्म, अपराध करने की स्वतन्त्रता सब को मिली हुई है। कोई भी जी भर कर शराब पी सकता है, शराब के नशे में खून कर सकता है, किसी के घर मे घुस कर अनाचार कर सकता है, वेश्याओं के यहाँ जा सकता है, डाके डाल सकता है, राह चलतों को सम्पत्ति लूट सकता है, राह चलती स्त्रियों की प्रतिष्ठा नष्ट कर सकता है—इसके लिए मगध की जनता स्वतन्त्र है।"

यक्षदत्त बोला—"यह क्या कहते हो शीलभद्र !"

"ठीक ही तो कह रहा हूँ"—शीलभद्र बोला—"जो हमारे शासक हैं वे दूसरे परम उपयोगी कार्यों में इतने उलझे रहते हैं कि इस ओर ध्यान देने की उन्हें चिन्ता ही नहीं है।"

यक्षदत्त ने पूछा—"यह कैसी बात है ?"

शीलभद्र कहने लगा—"छोड़ो इन बातों से क्या मतलब ! राजा यह नहीं चाहता कि जनता का नैतिक स्तर ऊपर उठे। सुसंस्कृत और ऊँचे विचारों वाली प्रजा की नाक में नकेल बाँध कर बन्दरों की तरह नचाया नहीं जा सकता। इसी लिए प्रयास करके जनता को पतित बनाये रखना हमारे कूटनीतिज्ञों की नीति है भैया ! गिरी हुई जनता को मनमाने ढंग से दबोचा जा सकता है।"

एक व्यक्ति का शासन कायम रहे इस लिए लाखों मानवों को पशु बना कर जो पाप मगध के महाप्रभु कमा रहे हैं उसका वर्णन करना कठिन है।

बोलते-बोलते शीलभद्र उठ कर खड़ा हो गया और बोला—"पराधीन जनता का समर्थन क्या और विरोध क्या। शासक की इच्छाओं का भार ढोने वाली जनता गधे के रूप में हमारे सामने है। मैं अब यहाँ टिक नहीं सकता।"

यक्षदत्त घबरा उठा और कहने लगा—"यह ढंग गलत है। शान्ति से सोचो। हम इस तरह न तो अपने गणतन्त्र की रक्षा कर सकेंगे और न अपना हित !" शीलभद्र कुछ शान्त होकर बोला—"मित्र, मैं इस चीवर को पहन कर राजनीति का स्पर्श नहीं करूँगा, चीवर बदनाम होगा और उस महापुरुष के प्रति लोगों का सन्देह अकारण सिर उठाएगा।"

उसने उँगली के इशारे से कुक्कुटपाद-गिरि की ओर दिखला दिया जिस पर बुद्धदेव विहार कर रहे थे।

क्षण भर रुक कर शीलभद्र बोला—"चीवर जिन्होंने दिया है उनके चरणों में इसे सौंप दूँगा। वैशाली मेरा घर है, वहाँ का गणतन्त्र मेरा है,

मैं उसकी सेवा करूँगा।" मेरी धारणा है कि धरती स्वर्ग है और जनता देवता है। इस स्वर्ग और यहाँ के देवताओं की उपेक्षा कर के यदि कोई चाहे कि आकाश वाले स्वर्ग और आकाश के देवताओं को प्रसन्न कर ले तो वह महामूर्ख है।"

यक्षदत्त मन ही मन पुलकित हो उठा। वह आवेश में आ कर शीलभद्र का हाथ पकड़ कर बोला—"मित्र, मैं भी चीवर पहनकर गुप्तचर का काम नहीं करना चाहता। यह भगवान् तथागत का महापवित्र परिधान है। यदि मैं पकड़ा गया तो सभी चीवर पहनने वाले गृहत्यागी भिक्षु और सन्त शंका की दृष्टि से देखे जाने लगेंगे। बौद्ध-संघ बदनाम हो जायगा।"

"मैं सहमत हूँ भैया"—शीलभद्र आत्मविश्वास पूर्वक कहने लगा—"शीघ्र ही मैं अपना पात्र और चीवर आनन्द की सेवा में लौटा दूँगा—उन्होंने ही मुझे संघ में लिया है। वैशाली पर काली-काली घटायें उमड़ना चाहती हैं। मैं यहाँ बैठा निर्वाण के सपने देखूँ—असम्भव है। ऐसे निर्वाण से क्या लाभ जो किसी के काम न आवे। मैं जनता के बीच में जाकर निर्वाण-पद प्राप्त करूँगा और अवश्य प्राप्त करूँगा।"

यक्षदत्त बोला—"धर्म की पुकार भी यही है।"

जहाँ पर दोनों नवयुवक भिक्षु एकान्त कुटिया में बैठ कर अपने लिए मार्ग का चुनाव कर रहे थे वहाँ से एक कोस की दूरी पर ही वह बन्दीगृह था जिस में राजा बिम्बसार तीन-चार सप्ताह से बन्द थे। एक सप्ताह से भोजन बन्द कर दिया गया था और जब राजा अर्धचेतनावस्था में पत्थर के ढोकों पर लुढ़क गये तो जल भी बन्द कर दिया गया!

देवदत्त ने यह आदेश दिया कि बिम्बसार का जल भी बन्द कर दिया जाय और बिना पानी के तड़प-तड़प कर उन्हें मरने के लिए—शान्तिपूर्वक मरने के लिए—छोड़ दिया जाय।

जल भी बन्द कर दिया गया। रानी क्षेमा राजा को नित्य दोनों वक्त भोजन कराने आती थी और नये घड़े में गंगा का जल भी दे जाती

थी। अन्तिम बार जिस दिन रानी वहाँ पहुँची देवदत्त पहले से मौजूद था। रानी का रथ जैसे ही रुका देवदत्त झूमता हुआ आगे बढ़ा और कुछ दूरी पर ही रुक गया—एक सैनिक ने उसे आगे बढ़ने से मना कर दिया। देवदत्त ने क्रोध से जल-भुन कर सैनिक की ओर देखा, जो सैनिक रीति से रानी का अभिवादन कर रहा था। रानी रथ से उतरी—वे दुर्बल और बहुत ही क्षीण हो गई थी। सिर के बाल करीब-करीब सफेद हो गये थे और चेहरा झुर्रियों से भर गया था। एक दासी ने सहारा दे कर रानी को नीचे उतारा। देवदत्त खड़ा-खड़ा देखता रहा और फिर बोला—"मगधेश्वरी पधारी हैं?"

इस कटु-व्यंग्य का जवाब किसी ने नहीं दिया तो वह गरज कर बोला—"बिम्बसार को शान्ति से मरने दो। आज से पानी देना भी बन्द कर दिया गया।" रानी ने फिर भी कोई जवाब नहीं दिया। गंगाजल का जो घड़ा रथ पर से उतारा जा रहा था वह धरती पर रख दिया गया। एक सेवक ने पूछा—"किस की आज्ञा से महाराज का जल भी रोका गया।"

देवदत्त चिल्ला कर बोला—"तू कौन है पूछने वाला—बिम्बसार की पत्नी पूछे तो बतला सकता हूँ।"

रानी धीरे से बोली—"मुझे रथ पर बैठा दो और जेतवन ले चलो, अब राजगृह नहीं आऊँगी।"

दासी ने सहारा दिया। रानी रथ पर बैठ गई—सारथी, दासी सभी विलख रहे थे—रानी चुप थी। जब रथ आगे बढ़ा तो देवदत्त ठठा कर हँसा और बोला—"जेतवन के सम्राट् से जा कर हमारी शिकायत कर दो—वे अपने लाखों आवारे, निकम्मे, भिखमंगे भिक्षुओं की फौज लेकर मगध साम्राज्य को उजाड़ देंगे। अभागी औरत!!!"

सैनिक क्षण भर में तलवार खींचकर आगे बढ़ा और गरजा—"तुम महारानी का अपमान नहीं कर सकते। दुःख है कि तुम्हारे शरीर पर चीवर है, नहीं तो अभी टुकड़े-टुकड़े कर डालता।"

देवदत्त डर कर थर-थर कांपने लगा और गिड़गिड़ा कर बोला—"मैं ने कब महारानी का अपमान किया ?"

सैनिक बोला—"मैं सिपाही हूँ—बहस करने की आदत सिपाही में नहीं होती ।"

इसी समय सेनानायक घोड़े पर आया। वह भी खड़ा हो गया। सैनिक अभिवादन कर के एक ओर हट गया। न तो देवदत्त ने कुछ कहा और न सैनिक ने।

दिन बीता और मेघों की गड़गड़ाहट के साथ भयानक रात आई। राजगृह की पहाड़ियाँ घोर अन्धकार में डूब गईं—जैसे पहले कभी थी ही नहीं !

एक प्रहरी बिम्बसार के लोह द्वार पर खड़ा हो कर चौकसी करता था और कई सौ सैनिकों की छावनियाँ बन्दीगृह के चारों ओर थीं।

आधी रात को जब घटायें गरज-गरज कर बरस रही थीं बिम्बसार ने कराह कर पूछा—"बाहर कोई है ?"

सैनिक ने कोई जवाब नहीं दिया तो बिम्बसार बोलने लगा—'आह, एक अजगर आ कर मेरी छाती पर बैठ गया, है ··· इसे कैसे हटाऊँ। कीड़े-मकौड़े नाक-कान में घुस रहे हैं, काट रहे हैं। हाथ हिलते नहीं, पैर हिलते नहीं। पहाड़ी चूहे पैर की उंगलियाँ कुतर कर खा गये—बड़ा दर्द है, आह !"

सैनिक ने कस कर दोनों कानों में उंगलियाँ ठूंस कर दूसरी ओर मन लगाने का प्रयत्न किया। बिम्बसार फिर अस्फुट स्वर में बोलने लगे—"प्यास, आह बड़ी तेज प्यास है—कोई है बाहर।"

सैनिक ने कान पर से हाथ हटा कर अपने मुँह में उष्णीश (पगड़ी) का एक छोर ठूंस लिया। कुछ देर शान्ति रही। केवल भीतर से कराह की करुणा भरी आवाज आती रही। बिम्बसार की आवाज फिर सुनाई पड़ने लगी—'क्षमा ! देवता ! अजातशत्रु को क्षमा कर दो ·······वह कम उम्र का नवयुवक है।··········जो जैसा कहते हैं सुन लेता है।·········आज

नहीं तो'''' '''कल वह अपनी '''' '''भूलों '''' '''के ''''''''लिए पछताएगा। देवता, मेरे प्रभु !''''''''शरीर की ''''''पीड़ा तो''''''''मैं हँसते '''''''' हँसते सह रहा हूँ ''''''''यह नाशवान देह'''' '''किस की रही है'''''''' किस की रहेगी '' '''मगर'''' '''अजातशत्रु मन की पीड़ा''''''''नहीं'''' '''सह सकेगा। ''''''ऐसा'''' '''करो ''''''कि ''''''''वह अपनी भूलों '''' '''के'''' '''लिए ''''''''कभी''''''''भी व्यथित न'''''''''हो ''''''''न हो, कभी''''''''भी''''''''नहीं। शान्ति''''''''से''''''''रहे।"

बिम्बसार की आवाज धीरे-धीरे अस्फुट होने लगी और फिर बन्दीगृह में डरावनी शान्ति छा गई। फिर जरा सी आवाज आई—"धम्मं शरणं गच्छामि।"

धीरे-धीरे घटायें बिखर गईं और शुक्ल पक्ष का चाँद आकाश में चमक उठा। चाँद के प्रकाश में सैनिक ने झाँक कर देखा—पत्थर के ढोकों के बीच में मगध-सम्राट् पड़े हैं—सिर एक ओर झूल गया है। सैनिक पीठ फेर कर बिलख उठा, वह भी तो मानव ही था।

दीमक की नीति

देवदत्त भर पेट भोजन कर लेने के बाद खाँसता हुआ कुर्मायन से बोला—"राजा का अन्न पचाना कठिन है आयुष्मान् !"

कुर्मायन चाहता था कि देवदत्त उसे टाँगें पसार कर दो घड़ी आराम करने का अवसर दे मगर उसने बातचीत शुरू कर दी। स्वयं तो वह मोटे गद्दे पर तीन-चार तकिये लगा कर लेटा हुआ था और कुर्मायन बैठा था नीचे खजूर की चटाई पर। दोनों के भीतर की दशा तो बराबर ही थी, दोनों ही अजातशत्रु द्वारा भेजे हुए नाना प्रकार के रक्त, माँस, मज्जा, वीर्यवर्धक आहार खा कर विकल हो रहे थे पचाने के लिए किन्तु देवदत्त लेटा हुआ था और कुर्मायन आसन मार कर बैठा था। उसका पेट इस कदर तना हुआ था कि उस पर नीली नसें उभर आई थी और भीतर साँस घुसने की भी जगह न थी। देवदत्त की बातो से कुर्मायन भल्ला कर बोला—"और राजा को पचाना आसान है क्या महाराज ?"

देवदत्त कहने लगा—"राजा शासक होता है सौम्य, शासक अपने गले में लगाने के लिए स्वयं फन्दा तैयार करता है। जब तक उसका पाप पूर्णता तक नही पहुँच जाता वह उछलता फिरता है और मनमानी करता है। किसी की गोद लूटता है तो किसी का सोहाग हरण करता है, किसी का ग्रास छीन लेता है तो किसी की झोली पर झपट्टा मारता

है। जैसे ही पाप पूर्णता तक पहुँच जाता है वह पाप का गुलाम बन जाता है।"

कुर्मायन बोला—"इसके बाद क्या होता है ?"

'इसके बाद"—आनन्द से आँखें बन्द करता हुआ देवदत्त बोला—"इसके बाद शासक के बुरे दिन शुरु हो जाते हैं। लोहे पर जंग लगती है—तुमने देखा है ? वह बाहर से नहीं आती आयुष्मान् लोहे से ही पैदा होकर लोहे को खाती रहती है, उसी तरह शासक का पाप शासक के भीतर से ही पैदा होता है और उसे खाता रहता है। तुम इस तत्व को समझो।"

"आश्चर्य शास्ता"—कुर्मायन चिल्लाया—"आपने जैसे मेरे अंधकार-पूर्ण अन्तर में तेज प्रकाश फैला दिया।

इसके बाद खाँसते हुए उसने अपने पेट पर हाथ फेरा और मन ही मन कहा—"साला उपदेशक बना है। मैं मरा जा रहा हूँ और यह सूअर ज्ञान बघार रहा है।"

देवदत्त प्रसन्न होकर फिर बोलने लगा—"तुमने दीमकों का पराक्रम देखा है ?"

रुआँसा-सा मुँह बना कर कुर्मायन बोला—"हाँ देखा है, वे सफेद चीटियाँ होती हैं—आह !'

देवदत्त ने चौंक कर पूछा—"कराहते क्यों हो आयुष्मान् !"

कुर्मायन दुखित होकर बोला—"पेट फटा जाता है बाबा ! आप तो लेटे हुए हैं, बैठे-बैठे मेरा तो बुरा हाल है।"

देवदत्त चिल्लाया—"कमीना कहीं का, मैंने मना किया था कि बन-कुक्कुट का मांस जल्दी नहीं पचता, सो तुम पूरा एक कुक्कुट हड़प कर गए, उस पर गोह का कबाब और बकरे का कलेजा—राक्षस की तरह जो कुछ सामने मिला उठा-उठा कर पेट में झोंकते गये। मरो साले, मैं क्या करूँ ?"

कुर्मायन किसी न किसी तरह डंडे के सहारे उठ खड़ा हुआ और

रोदन मिश्रित स्वर में बोला—"आप क्रोध न करें शास्ता ! किस भिक्षु ने चार-पाँच सेर से कम खाया, सभी कराह रहे हैं और दौड़-दौड़ कर भाड़ी की ओर ···· अरे बाप रे।"

कुर्मायन दोनों हाथों से पेट पकड़ कर कातर दृष्टि से चारों ओर देखने लगा। देवदत्त लेटे ही लेटे गरज उठा—"इस स्थान को गंदा करेगा क्या ? जा अपनी कोठरी में—भाग !"

कुर्मायन यही चाहता था। वह अपनी कोठरी में जाकर लेट गया और बोला—"पिशाच से प्राणों की रक्षा करना है, मगर देवदत्त केवल पिशाच नहीं है जो मान जाय—वह नर-पिशाच है। खुद तीन वनकुक्कुट खा गया, मैंने एक खाया तो ऐसा लगता है कि उसके बाप की कमाई खा रहा हूँ।"

अपना वक्तव्य देकर कुर्मायन लेट गया और उधर देवदत्त के निकट दो अनजान व्यक्ति आए। रात का पहला प्रहर था। सर्वत्र सन्नाटा था। वे दोनों अपवूड़े से थे किन्तु उनकी आँखें साँप की आँखों की तरह चमक रही थीं। दोनों ने चीवर पहन रक्खा था।

देवदत्त अलसित आँखों से उन्हें देख कर पहचान न सका और बड़बड़ा उठा—"अरे अभागे भिक्षु, अब क्या मुझे खाओगे ? जाओ आराम करो। कल फिर अजातशत्रु थाल में भर-भर कर मांस, यवागुभात, पूप, खज्जक भेजेगा ही।"

वह आँखें बन्द किये बड़बड़ाता जा रहा था और दोनों भिक्षु एक दूसरे को देख कर शैतान की तरह मुस्करा रहे थे। जब देवदत्त का प्रलाप बन्द हो गया तो एक भिक्षु ने धीरे से कहा—"महाराज, मैं हूँ तीर्थधर।"

"अरे तीर्थधर"—देवदत्त हाथ-पैर पटक कर उठता हुआ बोला—"मैंने पहचाना ही नहीं भाई।"

तीर्थधर के होठों पर फिर हँसी की जहरीली रेखा फैल गई। वह बोला—"मैं ही नहीं वृहद्ग्रीवा भी है।

देवदत्त सम्भल कर तकिये के सहारे बैठ चुका था, वह आँखे फाड़-फाड़ कर दोनो को देखने लगा। उसका इस तरह देखना तीर्थंधर को अच्छा नही लगा। वह कुढ गया पर चुप रहा। जब दोनों को जी भर कर देख चुका तब देवदत्त बोला - "बैठो जी, खड़े क्यों हो।"

उसने हाथ से चटाई की ओर इशारा किया मगर धीरे से तीर्थंधर देवदत्त की मुलायम गद्दी पर बैठ गया और वृहद्ग्रीवा को भी अपनी बगल में बैठा लिया। इस अशिष्टता पर देवदत्त नाराज तो हुआ मगर वह भी एक ही घुटा हुआ था, कुछ बोला नहीं।

तीर्थंधर बैठ कर कहने लगा—"राजगृह का प्रत्येक व्यक्ति आज गौतम से घृणा करने लगा है। चचरी वेश्या दो-चार दिनों से बराबर मेघवर्ण की पानशाला मे जाती है और कहती है कि वह रात को गौतम के साथ रहती है।"

देवदत्त सतोषपूर्वक बोला —"लोकमत पर असर डालने के लिए धीरज चाहिए। किसी भी बात को बार-बार दुहराते रहने से ही वह दिल मे बैठती है, वह चाहे झूठी ही क्यो न हो। प्रचारक को बार-बार एक ही बात को रटते रहना चाहिये।"

तीर्थंधर बोला—"महाराज, हम इतनी गहरी बात नही समझते, आप जैसा बतलाते है किये जाते है, फल क्या होगा यह आप जानिए।"

"ठीक है, ठीक है"—देवदत्त बोला—"अभी दो-चार मास और धीरज रखना होगा। गौतम की जड़ें गहरे मे फैल गई हैं, उन्हे उखाड़ने मे पूरा जोर लगाना चाहिए।"

तीर्थंधर मुँह बना कर बोला—"दो-चार मास ? इतना पैसा कहाँ है ? कही बात फूट गई तो पत्थरो से मार-मार कर जनता चचरी और उसके अभागे चाचा की चटनी बना देगी। जनता का स्वभाव बड़ा चचल होता है महाराज !"

देवदत्त कहने लगा—"सावधानी से काम करो।"

वृहद्ग्रीवा अपने अत्यन्त कर्कश स्वर को प्रयास करके नरम बना

बोला—"अब सावधानी बरतना कठिन है। बात फूटी तो आप भी अपनी रक्षा नहीं कर सकोगे। लोकमत में उफान आया न कि अजातशत्रु भी आपकी खाल उतारे बिना नहीं मानेगा। जो अपने बाप को कसाई की तरह मार सकता है वह आप पर दया करेगा क्या?"

देवदत्त सिहर उठा। वृहद्ग्रीवा की बातों ने उसे सिर से पैर तक बेंत की तरह कंपा दिया। सचमुच अजातशत्रु के भीतर मानवता जैसी कोई चीज न थी—देवदत्त यह जानता था। राजनीति मानव को कितना पतित बना सकती है—इसका ज्ञान भी देवदत्त को था। वह अजातशत्रु का केवल अपने हित में उपयोग करना चाहता था। पाला हुआ भेड़िया भी अपने स्वामी के बच्चों को फाड़ कर खा सकता है। इसी तरह शासक और राजनीतिज्ञ मौका मिलते ही अपने रक्षक और सहायक का गला घोंट सकता है। इस पर विश्वास करके निश्चिन्त रहने का क्या फल होगा यह देवदत्त को विदित था।

देवदत्त को इस बात की जानकारी थी कि राजनीति में सत्य, धर्म न्याय आदि की दुहाई इसलिए दी जाती है कि जन-साधारण का विश्वास और श्रद्धा प्राप्त करके असत्य, अधर्म और अन्याय का बिना विघ्न के विस्तार किया जा सके। आज तक सत्य, धर्म और अन्याय का उपयोग राजनीति में इसी उद्देश्य से किया गया है, यह देवदत्त जानता था। उसने स्वयं चीवर इसीलिए धारण किया था कि सहज विश्वासी जनता का विश्वास अनायास ही प्राप्त कर ले और विश्वास की आड़ में बैठ कर अपने शिकार का वध कर सके।

वृहद्ग्रीवा की ओर देवदत्त इस तरह घूर-घूर कर देखने लगा कि उसका देखना वृहद्ग्रीवा को असह्य हो गया। वृहद्ग्रीवा को ऐसा लगा कि देवदत्त की आँखें उसके भीतर चुभ गई हैं और पीड़ा पहुँचा रही हैं। जिसके भीतर बहुत ऐसी चीजें छिपी होती हैं जिन्हे वह किसी को जानने नही देना चाहता, उसे ऐसी मर्मभेदिनी दृष्टि बुरी लगती है जैसे घर मे तलाशी लेने आरक्षी-दल घुस पड़ा हो।

वृहद्ग्रीवा झुंझला कर बोला "आप तो उपदेश देते हैं मगर परिस्थिति क्षण-क्षण पर बदलती जा रही है।"

तीर्थंधर ने सिर हिला कर समर्थन किया। देवदत्त कुशल अभिनेता की तरह, जो एक घुटे हुए कूटनीतिज्ञ का प्रधान गुण होता है, चेहरे पर चिन्ता और दर्द के भाव लाकर नरम-स्वर मे बोला—"रास्ता बतलाओ भैया! मैं तो समझता हूँ कि गरम लोहे को ही झुकाया जा सकता है। अभी जनता के विचार गरम हैं, गौतम के प्रति उसके हृदय में ताजी घृणा है। यही मौका है जब हम जनता की इस प्रज्वलित घृणा से लाभ उठा लें। घृणा आदि भाव स्थायी नही रहते और व्यक्ति की तरह जनता कभी भी एक ही प्रश्न को पकड़ कर बैठी नही रहती।

तीर्थंधर बोला—"आपने ठीक ही समझा। बोलो भाई वृहद्ग्रीवा, अब क्या करना चाहिए।"

वृहद्ग्रीवा उत्साहित हुआ और आगे खिसक कर धीरे-धीरे अपने मूल्यवान् विचार प्रकट करने लगा। हिलते हुए वृक्ष के पत्तों को भी वह सदेह की दृष्टि से देखता था। बचपन मे उसने ऐसी बहुत-सी कहानियाँ सुनी थी जिनमे वृक्ष, पशु पक्षी बातें करते और रहस्य प्रकट करते बतलाये गए थे। वृहद्ग्रीवा बोलता-बोलता रुक जाता था। वह सोचता कि कहीं यह वृक्ष बोलने लगे तो क्या होगा। गलत काम करने वाले का दिल चोर हो जाता है जो हर घड़ी चौकन्ना रहता है—कहीं सकट न आ जाय। देवदत्त भी अपने भीतर का सुख गवा चुका था और शंका ग्रस्त रहता था किन्तु वह देखने मे जैसे भारी भरकम मनुष्य था, भीतर से भी ठोस था। राजवश का होने के कारण उसमे धीरज और प्रतीक्षा करने का बल था।

वृहद्ग्रीवा जब अपनी बात कह चुका तब यह जानने के लिए देवदत्त पर क्या प्रतिक्रिया हुई उसने देवदत्त के शान्त-गम्भीर मुख की ओर देखा। अपने भावो को दबाने मे देवदत्त कुशल था। वह अचंचल बना रहा और कुछ देर सोच कर बोला—"ठीक तो है। ऐसी ही

व्यवस्था करो। जब इस कार्य को अधिक लम्बे समय तक चलाया नहीं जा सकता तो इसका अन्त करो मगर अन्त इस ढंग से करो कि प्रतिकूल प्रतिक्रिया पैदा होने का खतरा न रह जाय। परिस्थिति को इतना बलवान मत बनने दो कि वह तुम्हारी सँभाल के बाहर हो जाय और तुम्हें ही चबा जाय—यह तो मूर्खता का लक्षण होगा। जिस परिस्थिति का अन्त करो उसका अन्त इस अन्दाज से करो कि वह समाप्त होते-होते भी तुम्हें बहुत बड़ा लाभ दे।"

तीर्थंधर छाती ठोक कर बोला—"विश्वास करें—हम ऐसा ही करेंगे।"

बृहद्ग्रीवा इधर-उधर देख कर बोला—"उस छोकरी वेश्या को बहुत दिनों तक 'गौतम की चहेती' बना कर रखना असम्भव है। बहुत हो चुका है। मैं कह चुका हूँ, अब इस नाटक का अन्त तो होना ही चाहिये। अन्त किस रूप में हो यह मैं बतला चुका। अब आप ही सोचें कि इस अन्त' से आपको लाभ होगा या नहीं।"

"अवश्य होगा"—देवदत्त धीरे से बोला—"प्रमाण का भी अन्त हो जायगा और जो एकांगी प्रतिक्रिया होगी, वह ऐसी होगी कि प्रमाण-भाव के कारण कोई उसे चुनौती भी नहीं दे सकेगा। कहने का मतलब यह है कि वह प्रतिक्रिया अछूती होगी, अजेय होगी। मैं सहमत हूँ।"

तीर्थंधर ने प्रसन्न होकर बृहद्ग्रीवा की ओर देखा जो अपनी नई बात देवदत्त के सामने रखने के लिये मन ही मन सुन्दर वाक्य गढ़ रहा था, ऐसा वाक्य जो जोरदार हो और अनुकूल असर भी पैदा करे।

देवदत्त बोल कर फिर समाधि में लीन हो गया। वह जानता था कि अब उसके दोनों सहायक क्या कहने वाले हैं। वह पहले ही से आक्रमण को व्यर्थ करने के लिये अपने आपको शान्त बनाने के प्रयत्न में लग गया था।

कुछ देर तक घोर सन्नाटा रहा। तीनों व्यक्ति बाहर से तो चुप थे किन्तु भीतर ही भीतर बोल रहे थे, बोलने का रास्ता खोज रहे थे,

बोलने के लिये बात तो तीनों व्यक्तियों के दिमाग में खौल ही रही थी। गर्दन झुका कर और शरीर को जरा इधर-उधर हिला कर वृहद्ग्रीवा ने मुँह खोला—उसने एक जँभाई ली, टेढ़े—पीले और सड़े हुए दाँतों को देखकर देवदत्त घिना उठा, उसके बाद वृहद्ग्रीवा के मुँह से सड़े हुए माँस जैसी बदबू निकली जो दूर-दूर तक फैल गई। देवदत्त के निकट ही वह बैठा था। यदि वृहद्ग्रीवा देवदत्त के लिये उपयोगी नहीं होता तो वह इस बेअदबी की उसे जी भर कर सजा दिये बिना नहीं मानता मगर हालत कुछ दूसरी थी—यदि वृहद्ग्रीवा देवदत्त के आसन पर मल-मूत्र भी त्याग देता तो वह बुरा न मानता, यह तो बदबूदार जँभाई ही थी।

मतलब साधने वाला व्यक्ति काफी सहनशील हो कर चुप लगाये रहता है—काम निकल जाने के बाद वह अपने विषैले नखों और दाँतों का उपयोग करता है। देवदत्त भी वृहद्ग्रीवा से अपना मतलब साध रहा था, वह किसी तरह उबकाई रोक जी मसोस कर रह गया।

जँभाई लेने के बाद वृहद्ग्रीवा ने अनुभव किया कि उसने जो शराब पी थी उसका रंग उखड़ रहा है। वह फिर पानशाला की ओर लौटना चाहता था, अतः देवदत्त के निकट बैठना उसके लिये जरा भी रुचिकर न था। वह बोला—"जो काम आपने बतलाया है उसके लिये कम से कम दो हजार स्वर्ण मुद्रायें तत्काल चाहिए।"

देवदत्त तो समझ ही रहा था। उसने स्वीकार कर लिया और अपनी मोटी गद्दी के नीचे से निकाल कर स्वर्ण मुद्राओं की दो थैलियाँ आगे खिसकाता हुआ पूछा—"काम सफाई से तो होगा?"

दोनों व्यक्ति एकटक थैलियों को देखते हुए सम-स्वर में बोल उठे—"अवश्य महोदय।"

बात यहीं समाप्त हो गई। वृहद्ग्रीवा ने थैलियाँ सँभालीं और तीर्थंधर पीछे-पीछे चला। दोनों ने जंगल की राह पकड़ी फिर पहाड़ियों के नीचे-नीचे चलने लगे। रास्ता वहाँ था ही नहीं। दोनों विषय पर चलने के अभ्यासी थे, बड़े मजे से चल रहे थे। आगे-आगे वृहद्ग्रीवा

था पीछे-पीछे तीर्थंधर। दिन का अंत हो चुका था। दोनों चुप थे मानों दो पिशाच एक साथ जा रहे हों।

चलते-चलते तीर्थंधर ने अपने चीवर में से एक चमकदार कटार निकाली और हाथ तौल कर वृहद्ग्रीवा की पीठ पर इस जोर से प्रहार किया कि वह बिना एक शब्द बोले औंधे मुंह उस पथरीली धरती पर गिरा। कटार पीठ से होती हुई छाती के उस पार निकल गई थी। अब तीर्थंधर मुस्कराया और स्वर्णमुद्राओं की दोनो थैलियां वृहद्ग्रीवा के कपड़ों मे से निकाल कर अपने अधिकार मे कर लीं। उसने एक बार भी लौट कर हाथ पांव पटकने वाले और दम तोडने वाले वृहद्ग्रीवा को नही देखा। बिलकुल वीतराग की तरह तीर्थंधर आगे बढ़ा और फिर झाड़ियों के पीछे जाकर लोप हो गया।

झाड़ियों से दस-पन्द्रह गीदड़ निकले और वृहद्ग्रीवा को घेर कर बड़ी शान्ति से बैठ गये।

विनाश का व्यापारी

हरे-भरे वृक्षों को देख कर आँखें शीतल हो जाती हैं, झुलसती नहीं; दहकती हुई आग को देखने से आँखें झुलस जाती हैं शीतल नहीं होतीं—यह एक साधारण-सी बात है किन्तु जिन हरे-भरे फूलों और फलों वाले वृक्ष को देख कर हम आँखों को शीतल करते हैं, उस वृक्ष में भी आग छिपी होती है, वही आग जिसको देखने से आँखें झुलसती हैं।

इसी तरह मानव के भीतर भी आग छिपी होती है, बाहर से वह भले ही शान्त और सुखी नजर आवे किन्तु उसके भीतर आग रहती है। वृक्ष जिस आग को अपने भीतर छिपाये रहता है वह जब बाहर भड़कती है तो अपने आश्रय-दाता को भी जला कर खाक कर डालती है। उसी तरह मानव के भीतर की आग जब भड़कती है तो दूसरों को जलाने के पहले उसी को खतम कर देती है जो उसे अपना रक्त, मज्जा, मांस ही नहीं अतीत, वर्तमान और भविष्य की आहुति दे कर सजग रखता है।

अजातशत्रु की वही सर्वग्रासिनी आग भीतर से बाहर निकलने के लिए फुत्कार करने लगी। उसके रोम-रोम से भीतर की आग की ज्वालायें उसी तरह बाहर फूटने लगीं जैसे खपरैल के छिद्रों से हो कर सूर्य की किरणें तार-तार बन कर नीचे गिरती हैं। वह उस भयानक

आग को शान्त रखने के लिए आहुति की चिन्ता में लगा—पहली आहुति बिम्बसार बने ! इस यज्ञ का आरम्भ बहुत ही ऊँचे स्तर से हुआ !

अजातशत्रु जानता था कि आग को कुछ न कुछ जलाते रहने के लिए कुछ चाहिये, यदि कुछ न दिया गया तो वह अपने मन से जो कुछ पाएगी जला कर समाप्त कर देगी।

इस तरह अजातशत्रु विनाश का एक अच्छा खासा व्यापारी बन गया। वह छटपट करता हुआ दोपहर को ही अन्तःपुर में पहुँचा—महल में सन्नाटा छा गया, आतंक फैल गया !

साधारण मनुष्य चाहता है कि वह ऐसा बने कि सभी उसे फूल की तरह प्यार करें किन्तु शासक की भूख दुलार-प्यार से नहीं मिटती और दुलार-प्यार के द्वारा अपनी ज्वालामयी महिमा का ही अनुभव कर पाता है अतः वह भय का, आतंक का कारण बनना चाहता है। वह चाहता है कि उसका स्मरण होते ही लोग काँपने लगें, बच्चे माँ की गोद में सिर छिपा लें, वृद्ध भगवान् से हाथ जोड़ कर आत्म रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगें।

अजातशत्रु ने जब से बिम्बसार की मुश्क कसवा कर सब के सामने रथ पर रखा और बन्दीगृह में बिना अन्न और जल के तड़पा-तड़पा कर मार डाला तब से मगधेश्वरी प्रेमा भी अपने सम्राट् पति की शकल देखते ही थर-थर काँपने लगती थी—वह जिस रात को अन्तःपुर में नहीं आता था उस रात को अन्तःपुर की देवियाँ देवता का वरदान मानती थीं। अजातशत्रु ने अपने आप को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया था कि सभी उससे बचना चाहते थे—भय से आदर करते थे, उसे आदरणीय मान कर नहीं। दूसरों के लिए यह स्थिति मौत से भी बुरी कही जा सकती है किन्तु शासक के लिए यही प्रिय है। साधारण व्यक्ति से शासक भिन्न होता है, यद्यपि वह आता है जन-साधारण में से ही ऊपर उठ कर !

अजातशत्रु अन्तःपुर की ओर धीरे-धीरे चला। वह विचारों में डूब-उतरा रहा था—आगे-आगे दो अंगरक्षक दौड़ रहे थे, पीछे-पीछे भी दो

अंगरक्षक नंगी तलवारें लिए सावधानी से चल रहे थे मानो किसी पापी को वे वध स्थान की ओर घेर कर ले आ रहे हों किन्तु बात ऐसी न थी—वह था महान् मगध का राज राजेश्वर अजातशत्रु, जो अपने पिता के वध करने के बाद अपने आप को सच्चे अर्थों में अजातशत्रु मानने लगा था।

सांप प्रत्येक सचल वस्तु को अपना शत्रु मानता है, शासक भी प्रत्येक 'सजग' वस्तु को अपना घोर बैरी मानता है। दोनों ही विनाश के व्यापारी हैं पर अन्तर यही है कि सांप डंस कर अपने काल्पनिक बैरी के शरीर का ही नाश कर देता है किन्तु शासक जिसे डँसता है उसका धर्म, ईमान और उसकी मनुष्यता तक को मार डालने का प्रयास करता है।

अजातशत्रु शासक था, अधिनायक था, एक छत्र सम्राट् था। वह अपनी छाया को भी अपना शत्रु मानता था क्योंकि वह दिन भर चुपचाप उसके साथ-साथ लगी फिरती थी।

अजातशत्रु चलता-चलता रुका और लौट कर गुर्राया—"अन्तःपुर में इतना सन्नाटा क्यों है ?"

अन्तःपुर के सम्बन्ध में बेचारे अंगरक्षक क्या जानें किन्तु सम्राट् के प्रश्न का जवाब न देना भी तो अपराध है और राजा के प्रति असम्मान के भाव प्रकट करना है। एक अंगरक्षक विनयपूर्वक बोला—"महाराज, सेवक कैसे बतला सकता है।"

अजातशत्रु पैर पटक कर शराबी की तरह चिल्ला उठा—"देखो जा कर, मैं इस मूक-तिरस्कार को सह नहीं सकता।"

इतना बोल कर अजातशत्रु विषधर की तरह फूत्कार करने लगा। एक अंगरक्षक सिर पर पैर रख कर दौड़ा और तत्काल अन्तःपुर के प्रधान द्वाररक्षक को अपने साथ लेकर लौटा जो वृद्ध और पुराना सैनिक-अधिकारी था। वह अभिवादन करके खड़ा हो गया।

अजातशत्रु ने फिर गुर्राकर अपने सवाल को दुहराया तो वृद्ध प्रहरी ने सिर झुका कर कहा—"महाराज, आनन्द का समाचार है। मैं उस

शुभ घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था जब अपने सम्राट् की सेवा में उपस्थित होकर.........।"

अजातशत्रु की तनी हुई भौंहें कुछ ढीली पड़ीं। वह नरम स्वर में बोला—"आनन्द का समाचार!"

वृद्ध सैनिक उत्साहित कंठ से बोला—"हाँ स्वामी, आनन्द का समाचार। इस महान् मगध साम्राज्य को प्रकाशित करने के लिए शीघ्र ही एक नवीन दिवाकर का आविर्भाव होने वाला है।"

अपने आप से अजातशत्रु ने पूछा—यह क्या आनन्द का समाचार है? नहीं—सैनिक!

वृद्ध सैनिक ने उत्तर दिया—"स्वामी!"

अजातशत्रु धीरे से बोला—'तुम तो उस समय भी राज्य की सेवा कर रहे थे जब मेरा जन्म हुआ था। बतला सकते हो सैनिक, क्या उस समय भी आनन्दोत्सव मनाया गया था?"

वृद्ध सैनिक बच्चे की तरह फफक-फफक कर रोने लगा और बोला—"स्वामी, आज मैं दस कम सौ साल का हूँ। केवल बाईस साल पहले आपका जन्म हुआ था।"

सैनिक रुका। फिर उसकी दोनों आँखों से गंगा-यमुना की पुण्य धाराएँ फूट पड़ीं। अजातशत्रु गर्दन झुका कर इस तरह खड़ा था मानो कोई अपराधी न्यायाधीश के सामने उसका निर्णय सुनने के लिए खड़ा हो। सैनिक की आँखों से आँसुओं की बूंदें लगातार उसकी दूध जैसी सफेद मूछों पर बरस रही थीं। अजातशत्रु के अंगरक्षक दम साधे खड़े थे—वे समझ नहीं पा रहे थे कि क्या हो रहा है, क्या होने जा रहा है।

जब सैनिक का जी कुछ हल्का हो गया तो बाष्प-रुद्ध कंठ से वह बोला—"मगधेश्वर, आपके पूज्य पिता ने कोटि-कोटि स्वर्ण मुद्राओं को अन्न के दानों की तरह गरीबों में बिखेर दिया था। बीस दिनों के इस महादान ने राज्य में किसी को भी दरिद्र नहीं रहने दिया। एक महीने के बाद हालत ऐसी हो गई थी कि खोजने पर भी कोई दान ग्रहण करने

वाला नहीं मिला। यह तो राज्य की ओर से धन दिया गया। नगर के महाश्रेष्ठी ने भी कोटि-कोटि स्वर्ण मुद्राओं को लुटा दिया। केवल बाईस वर्ष की पुरानी कहानी है महाराज! हाय, मैं आप के दयालु पिता का अंगरक्षक था और मगध साम्राज्य की सीमा वृद्धि करने के लिए लगातार पच्चीस साल तक महाराज के साथ खून बहाता रहा। वे दिन कहाँ गये महाराज ?"

सैनिक दोनों हाथों से मुँह ढांप कर फिर रो उठा। अजातशत्रु का तमतमाया हुआ चेहरा कपूर की तरह सफेद हो गया। उसने आगे बढ़ कर अपने उत्तरीय से सैनिक की आँखें पोछी और गले से रत्नों की माला उतार कर सैनिक के उष्णीश में लपेट दी।

यह नाटक जैसा अद्भुत दृश्य था। इसी समय अन्तःपुर में कोलाहल मच गया। आनन्द की वह जोरदार लहर अन्तःपुर की दीवारों से टकराने लगी।

वृद्ध सैनिक अजातशत्रु का अभिवादन करके चचल बच्चे की तरह दौड़ता हुआ अन्तःपुर की ओर भागा। अजातशत्रु का हृदय धड़क रहा था—कैसा सम्वाद उसे सुनने को मिलता है। उसका हृदय उछल-उछल कर मुँह को आ रहा था। एक-एक क्षण व्यग्रता का था। सैनिक फिर उसी तरह दौड़ता हुआ आया और दोनों हाथ उठाकर चिल्लाया—"मगधेश्वर की जय, राज्य अचल हो। महारानी प्रेमा ने एक पुत्ररत्न प्राप्त किया।"

अजातशत्रु आह्लाद के तूफान में पड़ा हुआ न तो पीछे लौटता था और न आगे बढ़ता था। देखते-देखते अन्तःपुर की दासियाँ आनन्दातिरेक से पगली-सी दौड़ी आईं और अजातशत्रु को घेर कर खड़ी हो गईं। सारे नियम-बन्धन इस विशेष अवसर के कारण गायब हो गये।

अपने अंग का एक-एक रत्नखचित आभूषण उतार-उतार कर उसने दासियों को दिया—अब राजा के पास केवल सिर पर मुकुट और कमर में तलवार रह गई। कानों के कुण्डल तक उसने न्योछावर कर दिए।

अजातशत्रु लौटा। उसके हृदय के एक कोने में छिपी हुई ग्लानि भी अपना विस्तार कर रही थी। आज वह पिता बन गया। किसी दिन आज की ही तरह उसके शुभागमन के सम्वाद ने मगधेश्वर बिम्बसार को भी पागल बना दिया होगा। पुत्र के लिए पिता क्या है, इसका स्पष्ट ज्ञान एकाएक अजातशत्रु को हुआ। वह विक्षिप्त की तरह दौड़ता हुआ सिंह-पौर पर पहुँचा और स्वयं चिल्लाया—"रथ लाओ।"

अजातशत्रु की ऐसी दशा किसी ने भी नहीं देखी थी। सिंह-पौर पर जो शताधिक प्रहरी थे वे व्याकुल हो कर एक साथ चिल्लाने लगे—"रथ लाओ, रथ लाओ।"

शोर मच गया। व्यग्र सारथी घोड़ों को दौड़ाता हुआ आगे आया। बिना एक शब्द बोले छलांग मार कर अजातशत्रु रथ पर बैठ गया और बड़े ज़ोर से बोला—"शीघ्र चलो।"

सारथी के कोड़े की मार खा कर पानीदार घोड़े इस तरह भागे कि जो आस-पास खड़े थे वे दहल उठे—उन्हें ऐसा लगा कि दूसरे ही क्षण रथ के साथ मगधराज का शरीर चूर-चूर हो जायगा। किसी ने भी यह नहीं समझा कि क्या हो रहा है।

सारथी इतना घबरा उठा था कि उसने भी यह नहीं पूछा कि—"रथ किधर जायगा।"

अपने को कुछ स्वस्थ करके अजातशत्रु बोला—"वहाँ चलो, उस ओर चलो जहाँ मेरे पिता हैं बन्दीगृह की ओर चलो—शीघ्र चलो।"

रथ दौड़ता हुआ आगे बढ़ा और देखते-देखते कोस भर की दूरी को उसने उठा कर पीछे फेंक दिया।

जैसे ही बन्दीगृह नजर आया अजातशत्रु फिर चिल्लाया—"रोको।"

तेजी से दौड़ने वाले महाबलवान् घोड़े जब तक रुके तब तक अजातशत्रु रथ पर से कूद पड़ा। वह गिरते-गिरते बचा और पूरा जोर लगा कर वह पत्थरों को उछल कर पार करता हुआ बन्दीगृह के दरवाजे पर पहुँचा जहाँ घोर सन्नाटा था। वह पागलों की तरह मोटे-मोटे

सीखचों को पकड़ कर दरवाजे को झकझोरने लगा। जो सैनिक वहाँ पर था वह डर कर भागा—तमाम भाग-दौड़ मच गई। सेना का नायक ताले की चाबी लिए आया किन्तु भय से कुछ दूर हो खड़ा रहा। अजातशत्रु सेनानायक की ओर झपटा और चिल्लाया—"चाबी दो, जल्दी करो।"

सेनानायक के हाथ से चाबी छीन कर वह फिर दरवाजे की ओर झपटा। वह इतना व्यग्र था कि चाबी डालने के लिए ताले का छेद ही उसे नजर नहीं आता था।

सेनानायक ने ताला खोल कर दरवाजे को आगे की ओर खींचा। अजातशत्रु उछल कर अंदर जाना चाहता था किन्तु सेनानायक ने सम्राट् को कस कर पकड़ लिया। अजातशत्रु ने क्रोध से पागल हो तलवार खींचनी चाही किन्तु बलवान सेनानायक के वज्र-बाहुपाश के भीतर वह बुरी तरह जकड़ चुका था। वह पूरा जोर लगा कर भी अपने को छुड़ा न सका तो बोला—"छोड़ दो मुझे!"

सेनानायक शान्त गम्भीर स्वर में बोला—'मैं अपने सम्राट् को खतरे में नहीं पड़ने दूँगा। आप भीतर नहीं जा सकते।"

अजातशत्रु हाँफता हुआ बोला— 'क्यों, मैं अपने पिता से क्षमा-याचना करूँगा।'

"महाराज शान्त हों"—सैनिक बोला—"आप अपने मन को स्वस्थ करें। मगधेश्वर बिम्बसार एक सप्ताह पहले स्वर्ग चले गये। उनकी सड़ी गली देह पत्थर के ढोकों में वहीं फँसी है—आप चाहे तो देख लें।"

अजातशत्रु ने देखा—पत्थरों के ढोकों के बीच में एक मानव शरीर फँसा पड़ा है।

इसी समय हवा का एक झोंका आया और सड़ी हुई लाश की भयानक दुर्गन्ध उस डरावने कारागार से निकली।

अजातशत्रु स्थिर होकर खड़ा हो गया। सेनानायक ने उसे छोड़ दिया और अपराध के लिए क्षमा याचना की!

अजातशत्रु पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ा था—ऐसा लगता था कि उसके शरीर में प्राण नहीं हैं—हाय, उसने अपने पिता की ऐसी दुर्गति करा डाली। उसका सिर चकराने लगा और हाथ-पैर ढीले पड़ गये। सेनानायक ने फिर बढ़ कर सहारा दिया। अजातशत्रु रथ पर बैठ गया।

रथ धीरे-धीरे राजधानी की ओर लौटा। अजातशत्रु चाहता था कि दिन के प्रकाश में वह राज-पथ पर न आय। जनता उसे देख कर क्या कहेगी—सभी उसे पितृघाती कहेंगे, विनाश का व्यापारी कहेंगे। पहले-पहल अजातशत्रु ने अपने भीतर ग्लानि और मर्मान्तिक लज्जा का अनुभव किया। वह इस तरह सिर झुकाये रथ पर बैठा था कि कोई उसके चेहरे को नहीं देख सके। अजातशत्रु के पागलों की तरह जाने और मुर्दे की तरह लौटने की चर्चा ने नगर में भय और कौतूहल का तूफान उठा दिया। रथ धीरे-धीरे सिंह-पौर पर आकर रुका तो अजातशत्रु ने देखा राज पुरोहित हाथ में दूर्वादल और फूल लिए राजकुमार को आशीर्वाद देने साक्षात् धर्म की तरह अन्त.पुर की ओर जा रहे हैं।

सेनानायक ने हाथ का सहारा देकर सम्राट् को रथ से नीचे उतारा!

समान प्राकर्षण

वर्षा समाप्त हो गई।

कास के सफेद फूलों से राज-गृह की धरती सफेद हो गई। बुद्ध-देव कुक्कुटपाद-गिरि से उतर कर फिर जेतवन मे आ गये। भिक्षु-संग भी वर्षावास समाप्त करके बिहारों मे लौट आया। नीले स्वच्छ गगन में सफेद मेघ जहां तहां हंसों के समूह की तरह सुन्दर दिखलाई पड़ने लगे। शरद की विभा फैल गई और दिशायें स्वच्छ हो गईं।

आश्विन की शुक्ला विभावरी उतरी जेतवन के शांत आँगन में भिक्षु शीलभद्र चुपचाप आधी रात को अपने आसन से उठा—वह गम्भीर स्वाध्याय मे लीन था। उसने ग्रन्थ को यत्नपूर्वक लपेट कर एक किनारे रक्खा और हाथ जोड़ कर ग्रन्थो के समूह को प्रणाम किया। दीर्घ स्वास छोड़ कर शीलभद्र उठा और चीवर से अच्छी तरह अपने अंगों को ढांप कर कुटिया के बाहर निकल गया—मानो बाह्य-प्रकृति उसे पुकार रही थी। वह दीवारों के घेरे के भीतर नहीं रहना चाहता था। उसके प्राण मुक्त प्रकृति मे एकाकार होने को अधीर हो रहे थे। शीलभद्र पथराया न था, वह सोच सकता था। उसके भीतर विचारों के प्रवाह गंगा के प्रवाह की तरह स्वच्छन्द होकर प्रवाहित होते थे। नाना प्रकार के ऐसे जटिल बन्धन जो न केवल शरीर को ही कुचल कर अचल

बना डालते हैं बल्कि प्राणों को भी मार डालते हैं, शीलभद्र को अपने वश में नहीं कर सकते थे। वह स्वभाव से ही सौम्य था किन्तु साथ ही उसके प्राण निर्दोष पंछी की तरह पख पसार कर अनन्त आकाश में विहार करने के लिए आतुर रहते थे। वह अपने विचारों के हिलोरों का अनुभव करता था, उन पर गौर करता था और उनके प्रवाह को रोकना नहीं चाहता था।

शीलभद्र के भीतर जो यौवन था वह सजग था, प्राणमय था, अल्हड़ भी था—उपदेशों की मार से वह मरा न था जो भिक्षुओं के लिए जरूरी था। वह पहले मानव था, बाद में भिक्षु ! उसने अपने 'स्व' का बलिदान नहीं किया था।

शीलभद्र कुटिया से बाहर निकला। आकाश से चाँदनी दूध के फेन की तरह बरस रही थी। हवा भी शीतल थी जिसमें रजनीगन्धा की भीनी-भीनी महक भरी थी। शीलभद्र मानो सुगन्ध भरी चाँदनी से आपाद मस्तक सराबोर हो गया। उसने जी भर कर साँस लिया और कहा—"धर्म और गम्भीर उपदेशों के अतिरिक्त भी इस संसार में बहुत कुछ है और इस "बहुत कुछ" को हमारी अंतरात्मा प्यार भी करती है।"

वह टहलता हुआ आगे बढ़ा। आगे बढ़ता हुआ चला गया। और वह टहलना चलने में बदल गया। वह चलता हुआ आगे बढ़ा। वनों के भीतर से होकर जाने लगा। पतली डालियों से होकर जो चाँदनी वन के भीतर गिर रही थी वह देखने में ऐसा जान पड़ती थी कि किसी जिद्दी बालक ने सफेद कागज की तरह चाँदनी को टुकड़े-टुकड़े कर के धरती पर बिखेर दिया है।

शीलभद्र रुका और आगे बढ़ा। निकट ही भिक्षुणियों की बस्ती थी—कई सौ भिक्षुणियाँ वहाँ समूह में रह कर निर्वाण की राह देख रही थीं। मुक्ति प्राप्त करके, निर्वाण-पद प्राप्त करके अपने आप को सदा के लिए समाप्त कर देने के लिए बहुत-सी युवतियाँ भी व्यग्र नजर आती थीं। सभी आकार-प्रकार और वय की भिक्षुणियों की वहाँ अच्छी

खासी आबादी थी। भगवान् बुद्ध की माता (विमाता) महाप्रजापति गौतम इनकी देख भाल करती थीं। शील-सदाचार और तरह-तरह के 'विनय' का लौह-जाल बना कर इनको ढक दिया गया था। इस बस्ती में न तो कभी वसन्त की हवा घुसने पाती थी, न कभी कोयल या पपीहे की कूक सुनाई पड़ती थी और न काली-काली कजरारी घटायें ही इस बस्ती पर अपनी छाया डालती थीं। त्याग, तपस्या, संयम, उपदेश, उपवास, उदासीनता, निराशा, थकान—कितना गिनाएँ इन तमाम भयानक बातों ने दल बना कर भिक्षुणियों की इन बस्ती को शिशिर, वसन्त, वर्षा—यानी सावन-भादों से बचा कर रखा था। निर्वाण-पद की तैयारी कोई हंसी-खेल तो है नहीं जो पंचदर्शियां बिना कठोर संरक्षण के कर सकें। प्रायश्चित और दंड का भय तो था ही, साथ नरक का भी खतरा भी कुछ कम न था किन्तु मन भी एक मुँहजोर होता है। खैर, शीलभद्र इस परम पवित्र और सुरक्षित बस्ती के निकट पहुँचा और एक ओर मुड़ गया। वह आगे बढ़ता चला गया और एक कुटिया के सामने जाकर खड़ा होकर मन ही मन बोला—यही तो है।

दूसरी सभी कुटियों के बीच में वह कुटिया भी सभी कुटियों जैसी ही थी मगर शीलभद्र के भीतर उस कुटिया के भीतर की आत्मा की जो तस्वीर थी वह तस्वीर मानो पूरी कुटिया को अपने चमकदार रंगों से प्रकाशित कर रही थी। यदि यह बात न होती तो दूसरी कुटियों से यह कुटिया शीलभद्र की आंखों को क्यों भली लगती—बनावट में तो सभी झोपड़े एक ही जैसे थे।

शीलभद्र ने विश्वास पूर्वक कुटिया के दरवाजे का स्पर्श किया। ऐसा लगा कि जैसे दरवाजा खोलने के लिए कोई पहले से प्रस्तुत हो। शीलभद्र के यहाँ तक पहुँचने के पूर्व ही उसका मन-दूत पहुँच चुका था।

बांस का दरवाजा हिला और एक नवयुवती भिक्षुणी सामने आकर खड़ी हो गई। उसके सिर पर चीवर का एक पल्ला था। चेहरे से व्यथा फूटी पड़ती थी। ऐसा लगता था कि किसी ने उसे जीवित ही दफना

दिया हो। उसकी रूप-श्री निर्दयतापूर्वक झुलसने पर भी झुलस न सकी थी—हाँ, आग की आँच से कुछ धूमिल अवश्य हो गई थी।

बाणभट्ट की तपस्विनी महाश्वेता की तरह वह भिक्षुणी आकर दरवाजे पर खड़ी हो गई। स्त्री-सुलभ कोमल लज्जा और लुनाई की एक जोरदार लहर उसके अंग-अंग में फैल गई। उसने अपने को तपस्या की आँच में 'ईंट' की तरह पकाने का भरसक प्रयास किया था किन्तु उसकी रूप-श्री को जैसे अमरता का शाप विधाता ने दिया था। उसके भीतर का नारीत्व नहीं मर सका था, यद्यपि रात दिन उसका गला घोंटा जा रहा था। वह भिक्षुणी मुस्कराई, उसकी कजरारी आँखें चमक उठीं। शीलभद्र धीरे से बोला—"उत्पला, क्या सोचा? निर्णय सुनने आया हूँ।"

उत्पला बोली—"सोचूँगी क्या? देव, अग्नि और गुरुजनों के सम्मुख जो सोचा था उसी पर स्थिर हूँ।"

शीलभद्र ने कहा—"तो अब अन्दर आता हूँ।"

उत्पला ने हट कर रास्ता दिया और शीलभद्र अन्दर चला गया। कुटिया का द्वार उत्पला ने बन्द कर दिया। शीलभद्र को आसन पर बैठा कर उत्पला स्वयं उसके सामने बैठी और बोली—"स्वामी, तुम ही मेरे निर्वाण हो, इतने दिनों तक यहाँ रह कर मैंने यही सीखा। वे निर्वाण को खोज रहे हैं और मैं हाथ आये निर्वाण का त्याग करके भिक्षुणी बनी, सिर मुँड़वाया—हाय!"

शीलभद्र चुपचाप बैठा रहा। उत्पला फिर बोलने लगी—"पत्नी के लिये पति ही 'निर्वाण' है देवता! अब मैं निर्वाण की टोह में दर दर पात्र लेकर क्यों भीख माँगती फिरूँ?"

शीलभद्र सिर झुका कर सोचने लगा। सन्नाटा छा गया। उसने सोच कर कहा—"देखो देवी अपने गणतन्त्र पर संकट उत्पन्न हो गया है। मैं यहाँ बैठ कर एकान्त-साधना करूँ यह भारी पाप होगा। वैशाली की मिट्टी का यह शरीर बना है, वैशाली को ही इसे सौंप दूँ—यही मेरा निर्वाण होगा।"

उत्पला ने उच्छ्वसित कंठ से कहा—"स्वामी मैं भी साथ रहूँगी। जब आप थक जाएँगे तो आपके चरणों का श्रम-निवारण कौन करेगा?"

शीलभद्र ने कहा "स्वीकार किया। एक बात और सोचना है उत्पला।"

"आज्ञा दीजिये"— उत्पला ने अपनी भोली-भाली आँखो को शीलभद्र के शान्त चेहरे पर टिका कर हृदय के पूर्ण उल्लास के साथ कहा। दो शब्दों में जैसे उसने अपने भीतर की सारी श्रद्धा को उँड़ेल कर धर दिया।

शीलभद्र कहने लगा— "हमें चीवर और पात्र लेकर नही जाना होगा। जिन्होंने हमे यह निधि सौंपी है उन्हे लौटा दें तो अच्छा! हाँ उनसे जो हमें आध्यात्मिक-निधि मिली है उसे ही अपने जीवन के शेष सम्बल के रूप मे रख लें। क्या विचार है तुम्हारा उत्पला?"

उत्पला दृढ़तापूर्वक बोली—"देवता, नारी का जन्म तर्क करने के लिए नहीं हुआ है, वह कर्म करना जानती है। तुम मार्ग निर्धारित करो मैं उस पर आगे बढ़ूँ। तुमने कहा था—भिक्षु-धर्म ग्रहण करूँगा, मैं साथ हो गई, आज कहते हो—चीवर और पात्र उन्हे लौटा दो—मैं तैयार हूँ।"

उत्पला चुप लगा गई।

शीलभद्र उठा और बोला—"उत्पले, आज मैं पूर्ण हो गया—अब तक मेरे भीतर एक प्रकार का हाहाकार भरा हुआ था। शून्य का चिन्तन मैं क्या करता— मैं तो इसी शरीर से शून्य होता जा रहा था।"

उत्पला ने झुक कर शीलभद्र के चरणों का स्पर्श कर लिया। पैर छूते समय उत्पला जब झुकी तो उसके सिर पर आंचल खिसक गया। शीलभद्र ने जब उत्पला का मुँडा हुआ सिर देखा तो उसका हृदय कराह उठा और आँखें छलक आईं। कैसी करुणा की मूर्ति बन गई थी उसकी जीवन-सहचरी। शीलभद्र की आँखें छलक उठीं, उसने मुँह फेर लिया! कभी-कभी मन की व्यथा को जी कड़ा करके पी जाने मे ही तोष मिलता है।

शीलभद्र के लिए दूसरी बार अपनी पत्नी का मुड़ा हुआ सिर देखना कठिन हो गया। वह मन ही मन बोला—हाय, वह कैसा व्यक्ति होगा जिस ने इस की कोमल, कुंचित लटों को निर्दयता से काट कर फेंक दिया होगा। मानव सब कुछ कर सकता है, सब कुछ बन सकता है।

उत्पला ने फिर आँचल खींच कर सिर ढक लिया—इस तरह शीलभद्र की आँखों को एक पीड़ाजनक दृश्य बार-बार देखने से त्राण मिला।

उत्पला कहने लगी—"आप अब आदेश दें, मैं क्या करूँ।"

शीलभद्र का एकाएक ध्यान भंग हुआ, वह बोला—"मैं कपड़े तो ले आऊँ। आखिर हमारे तन ढकने के लिए कुछ तो चाहिये। एक-दो दिन और रुकना पड़ेगा ही।"

उत्पला रुआँसी-सी हो गई। उसे भय हुआ कि कहीं उसके 'स्वप्न का स्वर्ग' अदृश्य न हो जाय। मानव का मन पारे की तरह होता है। यदि शीलभद्र का विचार बदल जाय तो क्या होगा। उत्पला की सजल आँखों ने मन की बातों को आँसू की भाषा में सब कुछ कह दिया। नारी जाति अपने मन की व्यथा को कभी भी संसार के सामने प्रकट नहीं करती यदि उसकी आँखें उसके वश में होतीं। चिर-विजयिनी नारी यदि कहीं हारी है तो अपनी ही आँखों से, जो तुरन्त रो कर मन के रहस्यों को प्रकट कर देती हैं।

उत्पला के हृदय में निवास करने वाले उसके जीवन-सहचर से कुछ भी छिपा न रह सका। वह बोला—"उत्पले, तेरे मन में शंका है कि मैं विचार बदल डालूँगा और तुझे यहीं झुलसने के लिए छोड़ दूँगा। ऐसा मत सोचो, मैं ने सोच समझ कर ही भविष्य का चित्र आँका है।"

आनन्दातिरेक से उत्पला शीलभद्र की छाती पर अपना सिर रख कर लम्बी-लम्बी साँस लेने लगी। शीलभद्र ने धीरे से, प्रेम और आदर-पूर्वक उसे अलग कर दिया और कहा—"अब मैं चला। दो दिन और प्रतीक्षा करो।"

वह चला गया। उत्पला आशा और निराशा के समान आकर्षण

में पड कर छटपटा उठी। शीलभद्र कुटिया में निकल कर खुले मैदान में पहुँचा।

उत्पला दरवाजे पर खड़ी-खड़ी अनिमेष लोचनों से उसे देखती रही। जब शीलभद्र आँखो से ओझल हो गया तो उत्पला वापिस लौटी, आसन पर बैठ कर धीरे से बोली—'दो दिन—आह !'

दो दिन !

एक-एक क्षण कर के दो दिन समाप्त हो गये। जिस रात को शीलभद्र को आना था वह रात भी चुपचाप राजगृह की पहाड़ियो और वनों पर उतरी। सध्या से ही उत्पला का हृदय रह-रह कर धड़क उठता था। वह दो वर्ष तक भिक्षुणी के वेश में रही। जीवन को उसने अत्यन्त कठोर साधना में लगा रखा था। ध्यान और समाधि का भी उसने अभ्यास किया था तथा सुखो से अलिप्त रह कर, अनासक्त रह कर कैसे संसार में रहा जा सकता था, इसका भी उसने अभ्यास किया था। कहने का तात्पर्य यह कि जितना उसमे बन पड़ा था उसने अपने को पथराया था पर उस वन की चिड़िया को कभी-कभी घोसले की याद बुरी तरह झकझोर डालती थी। वह अपने बिखरे हुए मन को एक साँस में जोड़ती थी तो एक क्षण में बीते दिनों की प्यारी स्मृतियाँ उसे तोड़-फोड कर के बिखेर डालती थीं। वह कभी-कभी थक कर हाँफने लगती थी अपने आप से जोर-जबरदस्ती करते-करते।

आज वह रात आई जब वह फिर लौट रही थी अपने सपनों की दुनिया में अपने प्रियतम का हाथ पकड़ कर—यह वही हाथ था जिसे उसने ईश्वर को साक्षी रख कर पकड़ा था या यो कहिये कि ईश्वर के हाथ के बदले में पकड़ा था।

उत्पला कभी दुल्हन थी, गृहलक्ष्मी बनी, गृहस्वामिनी बनी और अन्त में भिक्षुणी बन गई। अब भिक्षुणी उत्पला चाहती थी कि उसके भीतर

फिर से दुल्हन की तस्वीर जाग जाय। वह अपने जीवन को शुरू से आरम्भ करना चाहती थी।

समय बीतने लगा। रात आगे खिसकने लगी। तारकावलियों के साथ निशापति आगे खिसकने लगा। उत्पला का मन भी अपनी धुरी का त्याग कर के नई धुरी पर स्थिर होने के लिए आगे खिसकने लगा।

किसी तरह का भी खटका मिलते ही उत्पला दरवाजा खोल कर, धड़कते हुए हृदय से बाहर झाँकने लगती। प्रतीक्षा की घड़ियों में मन को झकझोरने का कितना अमोघ बल होता है, इसका अनुभव उत्पला को था किन्तु दो वर्ष के भिक्षुणी-जीवन की एकरसता ने प्रतीक्षा से होने वाली वेदना के रस से वंचित कर रखा था। वह भूल गई थी उस सुख को जिसे प्रतीक्षा का प्रज्वलित सुख कहा जाता है।

समय हो गया। उत्पला ने दरवाजा खोल कर व्यग्र हृदय से देखा। शीलभद्र कहीं नजर नहीं आया। उसने ताराओं को देख कर समय का ज्ञान करना चाहा। वह कुटिया में हताश हो कर बैठ गई। रात धीरे-धीरे अपनी चाल से खिसकती रही।

पराकाष्ठा

देवदत्त को जब यह संवाद मिला कि अजातशत्रु को पुत्र प्राप्त हुआ है और वह दौड़ा हुआ बन्दीगृह के दरवाजे तक अपने पिता से क्षमा याचना को गया तो उसका दिमाग चकरा गया। वह महीनों से राज्य का आतिथ्य सुख लाभ कर रहा था तथा उसको ऐसा विश्वास हो गया था कि अजातशत्रु उसकी मुट्ठियों में है। पुत्र प्राप्त होना या न होना कोई महत्वपूर्ण घटना उस कूटनीति विशारद के लिए न थी, हाँ अजातशत्रु के हृदय में पिता के प्रति इतना स्नेह पैदा हो जाना जरूर चिन्ता का विषय था। देवदत्त बड़बड़ाया—"छिछोरा है। जिसका मन बन्दर के मन की तरह चचल हो, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है।"

वैशाली का गुप्तचर यशदत्त उन दिनों देवदत्त के संघ में मिल गया था और यह पता लगाने में व्यस्त रहता था कि वैशाली के विनाश के लिए अजातशत्रु जो कुछ कर रहा है उसकी प्रेरणा का स्रोत कहाँ है। यशदत्त एक सिद्ध गुप्तचर था, वह विद्वान् और एक ही छँटा हुआ व्यक्ति था। वह देवदत्त के धर्म सेनापति कुर्मायन का विश्वासपात्र बन चुका था और देवदत्त के व्यक्तिगत परामर्शदाताओं में भी उसका स्थान हो चुका था। अब वह स्वच्छन्दता पूर्वक सारी बातें जानता और समझता था।

आधी रात को देवदत्त की गुप्त परिषद बैठी जिसमें कुर्मायन के साथ यशदत्त भी था। देवदत्त ने बहुत ही उदास स्वर में कहा—"अजातशत्रु का मन बदल गया है। स्वयं पिता बनते ही उसने पिता के हृदय की महानता का अनुभव किया। यही कारण है कि वह दौड़ा हुआ अपने पिता के कारागार में गया। यह अच्छा लक्षण नहीं है।"

अधिक शराब पी जाने के कारण कुर्मायन का दिमाग किसी ठौर टिकता न था। उसने उजड्ड की तरह कहा—"तो चलिये यहाँ से ! चीवर पहन कर भी हम बेकार राजनीति के कीच से उलझ रहे हैं।"

देवदत्त उछल कर खड़ा हो गया और दोनों हाथ हवा में उछालता हुआ गरजा—"मगध साम्राज्य की ईंट से ईंट बजा दूँगा। तुमने मुझे क्या समझा है।"

कुर्मायन भी जोश में आ गया। वही उसी तरह उछला और दोनों हाथ हवा में उछालता हुआ बोला—"मैं अंतिम साँस तक शास्ता का साथ दूँगा।"

देवदत्त तृप्त होकर किन्तु हाँफता हुआ बैठ गया और बोला—"कुर्मायन, तुम्हारे मुँह से शराब की बास आती है।"

कुर्मायन ने सलज्ज नवोढ़ा की तरह आँखें नवा कर और अंगों को सिकोड़ कर बड़ी अदा से कहा—"शास्ता, गलती हो गई।"

देवदत्त कुर्मायन की पीठ थपथपा कर और आँखें बन्द करके गद्गद् स्वर में बोला—"यही तो मैं चाहता हूँ आयुष्मान् ! मेरे सामने कोई झूठ न बोले। सत्य बोलने वाला कभी भी अपराधी नहीं माना जा सकता। मैंने तुझे क्षमादान किया, नहीं तो अभी शाप देकर "अवीची-नरक" में झोंक देता। तुमने खूब अपने को सँभाला—वाह ! साधु-साधु !"

यशदत्त मन ही मन हँसा। कुछ क्षण तक वहाँ का नाटकीय वातावरण रहा। जब देवदत्त का मन स्वस्थ हो गया तो वह बोला—"अब क्या करना चाहिए। मैंने प्रयास करके परिस्थिति को बनाया-सँवारा था

वह एकाएक बदल गई। यदि वह बच्चा जन्म लेते ही मर जाता तो अजातशत्रु का हृदय एकाएक नहीं बदलता—नहीं अनर्थ हुआ।"

कुर्मायन बोला—"यदि अब उस बच्चे का गला घोंट दिया जाय तो कुछ काम बन सकता है?

यक्षदत्त सिहर उठा।

देवदत्त कहने लगा—"काम तो बन सकता था मगर समय बीत गया। अब वह सांप का बच्चा रहे या मरे, कोई ऐसा लाभ नजर नहीं आता।"

देवदत्त सोचकर बोला—"हाँ, यदि अजातशत्रु का वध कर दिया जाय और किसी दूसरे को मगध का शासक बना दिया जाय तो लाभ हो सकता है। कुर्मायन, अजातशत्रु किसी क्षण भी हम सभी के सिर कटवा ले सकता है। पिता के प्रति जो उसका स्नेह उमड़ा है वह हमारे लिए घातक है—जरा गहराई से सोचो!'

कुर्मायन गहराई से सोचते-सोचते ऊँघने लगा। शराब का नशा उखड़ने लग गया था और वह फिर से दो घूंट पीना चाहता था। देवदत्त चुप लगा कर विचारों की गहराई में उतरता चला गया किन्तु कहीं उसके पैर ठोस धरती पर नहीं टिक सके। वह घबराया पर फिर विचारों की सतह पर आ गया। इधर कुर्मायन आँखें बन्द करके ऊँघता हुआ सोच रहा था कि—"इस नालायक से छुट्टी मिले तो थोड़ी पीकर आराम करूँ। आधी रात को साला मंत्रणा में बैठता है।"

देवदत्त बोला—'आयुष्मान, गौतम का विनाश पहले होना चाहिए। बिम्बसार की हत्या करने का पाप अजातशत्रु के सिर पर लद ही चुका है। जनता उसे गालियाँ दे रही है मगर भय से मुह नहीं खोलती। गौतम का विनाश भी यदि मैं अजातशत्रु के द्वारा ही करा सका तो यह दूसरा पाप उसके सिर पर चढ़ेगा—दो-दो घोर पापों का भार वह सँभाल न सकेगा। निश्चय ही उसकी गर्दन टूट जायगी। यह बात सही

है किन्तु यदि अजातशत्रु ने मन ही मन अपने पिता का हत्यारा मुझे ही मान लिया हो, तो क्या होगा–मुझे यही भय है।"

यक्षदत्त क्रोध से जल उठा मगर शान्त स्वर में बोला—"आप आशीर्वाद देने महाराज के पास जाएँ। जाने से ही आपको पता चल जायगा कि उसका रुख कैसा है। अनुमान सदैव खरा ही नहीं उतरता।"

यक्षदत्त के अन्तिम सिद्धान्त-वाक्य ने देवदत्त को भड़का दिया। उसे ऐसा लगा कि यक्षदत्त उसकी बुद्धि पर आक्षेप कर रहा है। वह झुंझला कर बोला—"सावधान माणवक, मैं ध्यानस्थ होकर देवलोक तक की बातें सही-सही जान लेता हूँ। तुमने मुझे गौतम समझ रखा है क्या ?"

यक्षदत्त क्रोध के मारे तिलमिला उठा क्योंकि वह बुद्धदेव को जानता था और देवदत्त भी उसकी आँखों से ओझल न था उसने अपने उबलते हुए क्रोध को पूरा जोर लगा कर रोका। उसे इतना संघर्ष करना पड़ा कि पसीने से उसका चीवर करीब-करीब तर हो गया। देवदत्त फिर बोलने लगा—"गौतम की शरण में बिम्बसार गया था, यह तो तुम भी जानते हो। बिम्बसार की पत्नी भी भिक्षुणी हो गई। बिम्बसार को बन्दी गृह में बन्द किया, जहाँ आज भी उसकी लाश पड़ी सड़ रही है। गौतम के लिए क्या यह उचित कि था वह आँखें पसार कर अपने एक श्रेष्ठ भक्त को बिना अन्न-जल के घुट-घुट कर मरते देखे और कुछ बोले नहीं ?"

कुर्मायिन ने नहले पर दहला मारा—"शास्ता बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। यदि गौतम चाहते तो अजातशत्रु को ऐसा करने नहीं देते। उनसे कैसे देखा गया बिम्बसार का ऐसा भयानक मरण! गौतम के शरीर के भीतर हृदय नहीं है, पत्थर है।"

देवदत्त गरज उठा—"बन्द करो अपनी बकवास! मैं हृदय की बात नहीं कहता। राजनीति में हृदय खोजने वाला तुम्हारे जैसा ही कोई गधा हो सकता है मेरी तरह अनुभवी शासक नहीं। अरे मूर्ख गौतम या बौद्ध-संघ राजनीति के आधार पर टिका हुआ है। धर्म की

आड़ में राजनीति की साधना की जाती है। देखोगे किसी न किसी दिन बौद्ध-संघ चीवर फेंक कर तलवार उठा लेगा और सारे आर्यावर्त पर शासन करने लग जायगा।"

कुर्मायन सिटपिटा कर बैठ गया था। वह हाथ जोड़ कर बोला—"शास्ता का कथन ठीक है।"

देवदत्त प्रसन्न होकर बोला—"तो गौतम ने भी चुप रह कर बिम्बसार की हत्या का समर्थन ही किया?"

कुर्मायन बोला—"बिल्कुल साफ बात है।"

"तो बिम्बसार की हत्या का पाप"—देवदत्त बोला—"अजातशत्रु और गौतम दोनों के सिर पर है।"

कुर्मायन ने कहा—'अवश्य।"

देवदत्त ने धीरे से कहा—"यही कूटनीति है। अपने भिक्षुओं को राजगृह में भेज कर इस विचार को फैला दो कि बिम्बसार की हत्या गौतम के इशारे पर अजातशत्रु ने की है। जनमत दोनों का वैरी बन जायगा—एक बाण से दो पक्षी मारे जाएँगे।

यक्षदत्त अधीर हो गया और कुछ बोलना ही चाहता था कि देवदत्त ने फिर मुंह खोला—'मेघवर्ण की पानशाला से कोई नया संवाद आया है? तीर्थंधर और वृहद्ग्रीवा क्या हुए?'

इन प्रश्न का उत्तर कौन देता। वृहद्ग्रीवा की लाश को तो अरमा हुआ गीदड़ों ने नोच-नोच कर महोत्सव मनाया। अब बचा तीर्थंधर जो अपने कुकर्मों की वृद्धि दिनचिन होकर करता जा रहा है। यदि हम सत्कर्म और कुकर्म को दो प्रकार का फल कहे तो यह कह सकते हैं कि एक का छिलका कड़वा और कड़ा होता है तथा भीतर का गूदा अमरता प्रदान करने की ताकत रखता है, तथा दूसरे का छिलका मक्खन की तरह मृदुल और स्वाद में अमृत जैसा होता है किन्तु गूदा साक्षात् कालकूट है। प्रत्यक्षवादी मानव उसी लाभ को लाभ समझता है जो उसे तत्काल मिल जाय—प्रतीक्षा करने का धैर्य उसमें नहीं है और

होना भी चाहिए, फिर देवदत्त या तीर्थंघर क्यों बैठ कर सत्कार से होने वाले लाभ के लिये-लम्बी प्रतीक्षा करें।

तीर्थंघर वृहद्ग्रीवा की पीठ में कटार घुसेड़ कर स्वस्थ चित्त से आगे बढ़ गया था जैसे कुछ हुआ ही नहीं। वह चलता हुआ चंचरी के यहाँ पहुँचा जो राजगृह के एक गुप्त गृह में निवास करती थी। चंचरी का चाचा सामने भरा हुआ मद्यपात्र रख कर अपनी वेश्या कन्या को बुद्ध धर्म का मर्म समझा रहा था। वह कह रहा था कि यह संसार आज नहीं तो कल अवश्य हवा में उड़ जायेगा। अतः शरीर और धन पर अधिक ममता रखना भारी मूर्खता है। बात यह है कि चंचरी ने साफ-साफ कह दिया था कि अब वह मेघवर्ण की पानशाला में तब तक नहीं जायगी जब तक उसे नये रत्नजड़ित आभरण नहीं दिए जाएँगे। चंचरी की कमाई का प्रत्येक छदाम उसका चाचा अपने पास रख लेता था और दिन भर मद्यपान करता था तथा चंचरी को भी पिलाता था। जब चंचरी अधिक नशे में हो जाती तो वह अपने चाचा के सिर का दानीचर उतारती, और जब उसका चाचा पीकर मस्त हो जाता तो चंचरी की गत बना देता—इसी तरह दोनों का समय निर्विघ्न व्यतीत होता था। तीर्थंघर चंचरी के यहाँ पहुँचा। एक पुराने घर के भीतर तहखाना था जो बहुत ही गुप्त और डरावना था, उसी में चंचरी को लाकर तीर्थंघर ने छिपा कर रक्खा था। किसी को कानों-कान खबर न थी कि वह कहाँ रहती है—वह घर भूतों का घर माना जाता था, बरसों से वह खाली पड़ा था। आस-पास कोई घर न था—ऐसा जान पड़ता था कि नगर के घरों ने उस घर को जातिच्युत करार देकर अपने घेरे के बाहर कर दिया था।

पुराने और डरावने वृक्षों का एक बाग था जिसमें गीदड़ों का एकछत्र शासन था। उसी बाग के बीच में वह अब-ढहा घर था तथा उसी घर के पेट में चंचरी अपने बन्दर जैसे चंचल तथा मूर्ख चाचा के साथ कुछ दिनों से रह रही थी। रात को वहाँ तीर्थंघर वृहद्ग्रीवा आदि

छिछोरे पहुँचते थे और शराब पी-पीकर योजनाएँ घड़ा करते थे। बाहर की दुनिया से उस दुनिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था।

तीर्थंधर धीरे-धीरे अन्दर घुसा और फिर अपनी कोठरी में जाकर स्वर्णमुद्राओं को सम्भाल कर रख दिया। दूसरी कोठरी में चंचरी का चाचा प्रवचन कर रहा था। प्रदीप के मन्द प्रकाश में वह दृश्य सचमुच पिशाचपुरी का दृश्य था।

तीर्थंधर फिर कोठरी से बाहर निकला और इधर-उधर देख कर मकान से बाहर हो गया। चचरी या उसके चाचा शराब के नशे में उन्मत्त से हो रहे थे। किसी को पता ही नहीं चला कि कौन आया और कौन गया।

सदा शंकाग्रस्त रहने वाला व्यक्ति साँप या बिल्ली की तरह निःशब्द चलता है, वह किसी को अपनी आहट लगाने नहीं देता। तीर्थंधर भी पुराना पापी था और उसका मन सदा चौकन्ना रहता था, वह अपनी छाया को भी वैरी मानता था। वह खुली सड़क पर आकर एक ओर मुड़ा तथा अन्धकारपूर्ण पतली गलियों में जाकर विलीन हो गया। उस गली में अपराधकर्मी अपने को आरक्षी की नजरों से छिपा कर रहा करते थे। गली सुरंग जैसी थी तथा छोटे-छोटे घर एक दूसरे से सटे हुए खड़े थे। गंदगी और बदबू का अन्त न था। चण्डालों की बस्ती उसी गली में थी जो जीवित पशुओं की खाल उतारा करते थे। वे क्रूर और बहुत ही उग्र स्वभाव के थे। उन्हें 'वृषल' कहा जाता था। हत्या और चोरी उनका पेशा था तथा वे छोटे-छोटे बच्चों तक को पकड़ कर मार डालते थे और उनके शरीर पर के वस्त्र अपने बच्चों को पहनाने के लिए ही वे ऐसा घोर कर्म बिना मन पर दबाव डाले कर डालते थे।

तीर्थंधर उसी गली में घुसा और गायब हो गया। उसके पैर उस ऊबड़-खाबड़ गली में बिल्कुल स्वच्छन्दतापूर्वक आगे बढ़ रहे थे। एक दण्ड बाद तीर्थंधर उस गली से बाहर निकला, उसके साथ दो काले-काले

नाटे से व्यक्ति थे जिनके सिर के बाल बिखरे हुए थे तथा दाढ़ी-मूंछ से चेहरा भरा हुआ था। दो पीली-पीली, छोटी-छोटी आंखें चपटी नाक के ऊपर जुगनू की तरह चमक रही थीं। दोनों के शरीर से सड़े हुए मांस जैसी बदबू आती थी। तीर्थंधर ने कहा—"भैया कुण्ठ, सारी बातें तुम समझ चुके, अब कृष्ण पक्ष आने दो। अभी तो चांदनी रात है।"

उन दोनों में से एक व्यक्ति नकिया कर बोला—"समझ गया। सूचना दे देना। तैयार रहूंगा।"

वह अनार्य भाषा बोल रहा था।

देवधर ने सिर हिला कर कहा—"अवश्य।"

दोनों अपनी गली में घुस गए और देवधर सोचता हुआ एक ओर चला गया। वह सड़क से हट कर वृक्षों की छाया में चल रहा था। वह चाहता था कि वह सबको देखे किन्तु उसे कोई देख न सके।

बात उल्टी है। सबसे अधिक लोगों की निगाह उसी व्यक्ति पर पड़ती है जो अपने गंदे दामन को छिपाए इधर से उधर भागता फिरता है। इस क्रूर सत्य को तीर्थंधर जान कर भी जानना नहीं चाहता।

मौत के अस्तित्व को चाहे कोई स्वीकार न करे किन्तु वह है और ठीक समय पर बिना बुलाये धमक पड़ती है—यही हाल सत्य का भी है। तीर्थंधर मेघवर्ण के शराबखाने की ओर चला और भीतर घुस कर एक कोने में बैठ गया। उसके शरीर पर चीवर न था। मेघवर्ण उसे पहचानता था। उसने उसे कनखियों से देखा और मुस्करा कर इशारे से पूछा—"कहो किधर आये।"

तीर्थंधर भोला-भाला बना बैठा रहा तो मेघवर्ण मन ही मन बड़बड़ाया—"साले का 'मर्कट-वैराग्य' देखो। यह अब कौन-सा उत्पात खड़ा कर दे, कौन जानता है।"

जब रात अधिक हो गई तो तीर्थंधर उठा और चुपचाप पानशाला के बाहर निकल गया।

इस घटना के ठीक एक दिन पहले चंचरी के चाचा ने अत्यधिक शराब पीने के कारण मेघवर्ण से कहा था—"महाशय, मेरी लड़की कभी भी तथागत् के यहाँ नहीं जाती। हम तो जानते भी नहीं कि तथागत कहाँ रहते हैं। हमें ताम्रपर्णी से लाया गया और यह कहा गया कि तुम झूठ-मूठ प्रचार करो कि मेरी लड़की तथागत की चहेती है। हमें धन दिया जाता था तथा देवदत्त नामक एक प्रभावशाली स्थविर ने यह वचन दिया कि वह मेरी लड़की को मगधेश्वर की रानी बनवा देगा। हम दो-तीन मास से यह नाटक कर रहे हैं। अब हम ऊब उठें। हमें खतरा जान पड़ता है मगर क्या करें।"

मेघवर्ण घबरा उठा। हे भगवान् ! ऐसा घृणित षड्यन्त्र। देवदत्त को सभी जानते थे। नगर के प्रधान गुप्तचर के सामने ये बातें हुईं जो वहीं पर झूठ-मूठ नशे में बेहोश पड़ा था और सब कुछ सुन रहा था। मेघवर्ण भय से कांपने लगा। यह पाप की पराकाष्ठा थी।

सभी धर्मों का तत्व

जब उत्पला प्रतीक्षा के निर्मम आघातों को नहीं सह सकी तो वह अपने बिछावन पर औंधे मुंह लेट कर रुलाई के वेग को रोकने में लग गई—बेकार को एक काम तो मिल गया!

कुछ क्षण इसी तरह बीते। रात कुछ और आगे खिसकी। चन्द्रमा पहाड़ियों के उस पार चला गया—पहाड़ियों की चोटियों पर सफेद रेखा की तरह चन्द्रमा की चांदनी दिखलाई पड़ रही थी जैसे ऊपर पार दूध का सागर हो, जो उमड़ता हुआ पहाड़ियों के ऊपर तक पहुँच गया। उत्पला अपने तप्त चेहरे को पोंछ कर उठ बैठी और बोली—"इस जीवन से मौत अच्छी। कठोर प्रयास के बाद मैं अपनी वर्तमान स्थिति के योग्य अपने मन को बना पाई थी—उन्होंने आकर सब कुछ अस्त-व्यस्त कर दिया।"

इसी समय किसी ने दरवाजे को धीरे से खटखटाया। उत्पला उछल कर खड़ी हो गई। उसके चेहरे पर की विषाद-रेखाएँ गायब हो गईं। उसने होले से बांस की टाटी को तनिक-सा खिसकाया—नागरिकों जैसा कपड़ा पहने शीलभद्र खड़ा था। वह दरवाजा ठेल कर अन्दर आ गया। उसके हाथ में एक छोटी-सी गठरी थी।

शीलभद्र बोला—"कपड़े बदल लो और चलो।"

उसने उत्पला के काँपते हुए हाथों में गठरी पकड़ा दी। उत्पला की आँखें शीलभद्र के शान्त चेहरे पर टिकी हुई थी। शीलभद्र बाहर चला गया और चलते-चलते बोला—"देर न करना। रात थोड़ी ही बाकी है।"

उत्पला गठरी सामने रख कर सोचने लगी—"क्या मैं फिर से गृहस्थ बनना स्वीकार करूँ। त्याग के बाद ग्रहण—यह तो उचित नहीं है।"

वह खड़ी-खड़ी एकटक गठरी को निहारती रही—वह उसे खोलना चाहती थी किन्तु साहस नहीं होता था। जिस काषाय को उसने धारण किया था वह उसके शरीर का ही परिधान न था, विचारों पर भी उसका रंग चढ़ गया था। उत्पला के मन को आरे से चीर कर जैसे किसी ने बराबर-बराबर दो भागों में बाँट दिया था। वह कभी इस पलड़े पर लात रखती तो कभी उस पलड़े पर। बाहर शीलभद्र अधीरता-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहा था। जब काफी समय तक वह व्याकुल प्रतीक्षा कर चुका तो उसने अन्दर झाँक कर देखा। उत्पला चुपचाप गठरी के सामने सिर झुकाये खड़ी नजर आई।

स्त्रियों पर जो रंग चढ़ जाता है वह करीब-करीब पक्का हो जाता है, उत्पला भी चीवर के रंग में सराबोर हो चुकी थी—बाहर भीतर दोनों ओर!

शीलभद्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह धीरे से कुटिया के भीतर घुसा और उत्पला के कन्धे पर हाथ रखना चाहा तो वह चौंक कर पीछे हट गई और बोली—"हाँ; अभी तो मैंने चीवर का त्याग किया नहीं, आप मेरा स्पर्श करना चाहते हैं!"

शीलभद्र बोला—"उस दिन तुमने मेरा स्पर्श जो किया था।"

उत्पला ने तड़ से जवाब दिया—"वह मेरा अज्ञान था।"

शीलभद्र के हृदय को एक आघात लगा। वह चुपचाप अपनी जगह पर खड़ा रहा। उत्पला फिर बोली—"स्वामी, मैं भिक्षुणी बन गई, अब तुम मुझे ग्रहण कर नहीं सकते—यह धर्म का आदेश है। मैं गृहस्थों

जैसे कपड़े पहन कर संसार की आंखों से कैसे अपने को बचा सकूँगी। चीवर मेरे लिये रक्षा-कवच है। सभी देखकर आदर से हट जाते हैं किन्तु जब मैं गृहस्थों जैसे वस्त्र धारण करूँगी तो न केवल मेरा पहनावा ही बदलेगा बल्कि मेरे सोचने और समझने का धरातल भी बदल जायगा। मैं क्या करूँगी—इसका उत्तर दो।"

शीलभद्र बोला—"यह बुरा सवाल पूछा तुमने उत्पला!"

उत्पला बोली—"स्वामी, तुम मुझे ब्याह कर लाये। लालसाओं के झूले पर झूलती हुई मैं तुम्हारे घर आई। भरी जवानी में तुमने प्रव्रज्या की, मैं भी भिक्षुणी बन गई। अपनी सारी कोमल और भोलीभाली लालसाओं का गला घोट कर मैंने सिर मुँडाया, चीवर पहना, व्रत और उपवास करके शरीर का, मन का कठोर दमन किया। क्या मैं गलत कह रही हूँ?"

शीलभद्र क्या जवाब देता। उसने नारी को जितना सरल समझा था वह उतनी सरल न थी—शेर की हथेली स्पर्श करने में मखमल से भी अधिक मृदुल होती है किन्तु प्रहार करते समय जब उसमें से छुरे जैसे नाखून प्रकट होते हैं तो देखने वाले का बुरा हाल हो जाता है—यही हाल नारी का है। वह जितनी बाहर से कोमल है, फूल जैसी है, भीतर से वैसी नहीं है, इसका ज्ञान शायद शीलभद्र को न था। यह उसका दुर्भाग्य था और क्या कहा जा सकता है।

उत्पला फिर बोलने लगी—"अब तुम फिर मुझे गृहस्थी की ओर ले जाना चाहते हो। साँप अपनी केंचुली से बाहर निकल कर फिर उस में घुस नहीं सकता। मैंने केंचुली का त्याग कर दिया है। मैं अब फिर अपने को अनिश्चित भविष्य की दया पर छोड़ नहीं सकती स्वामी, मुझे क्षमा कर दो।"

इतना बोल कर उत्पला शीलभद्र के पैरों से कुछ हट कर, धरती पर गिर पड़ी और सिसक-सिसक कर रोने लगी। शीलभद्र कुछ नहीं बोला और उसने चुपचाप पोटली उठा ली। जब वह कुटिया के बाहर आया

तो आकाश की ओर देख कर बोला—"पहली बार उत्पला का त्याग करते समय मेरे मन को जितना जोर नही लगाना पड़ा था उतना जोर आज लगाना पड रहा है। उस दिन गृहस्थ-धर्म से प्रव्रज्या की ओर मुझे जाना था और आज प्रव्रज्या का त्याग कर के गृहस्थ-धर्म की ओर लौट रहा हूँ। भिक्षु जीवन को पूर्ण करने के लिए जाया की आवश्यकता नही है, अतः विना उत्पला के भी मैं पूर्ण था किन्तु अब गृहस्थ धर्म की शरण मे जा रहा हूँ और विना उत्पला के मैं इस धर्म का धर्मपूर्वक पालन नहीं कर सकता।

शीलभद्र ने लौट कर देखा—उत्पला की कुटी का द्वार उसी तरह अधखुला है। अन्धकार के कारण वह अन्दर नही देख सका कि उत्पला क्या कर रही है।

धीरे-धीरे शीलभद्र आगे बढ़ा—उसके लिए दूसरी बार उत्पला का त्याग मौत से उलझना था पर क्या करता, होनहार के आघातों प्रत्याघातों को तो सहना ही पड़ता है। शीलभद्र आगे बढा और बढ़ता चला गया। उसे कभी-कभी भ्रम हो जाता था कि उत्पला अपना हठ छोड़ कर पीछे-पीछे आ रही है। वह कभी-कभी लौट कर देख भी लेता किन्तु अन्धकार के अतिरिक्त कोई भी दूसरी चीज उसकी आँखों का स्वागत नहीं करती। शीलभद्र के आगे अन्धकार था और पीछे भी—उसका अतीत अन्धकार-पूर्ण तो था ही, भविष्य भी अन्धकाराच्छन्न ही था। वह लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था पथ तो उसे सूझ ही नही रहा था। हाय रे मानव !!!

जीवन की सब से बडी बाजी हार कर शीलभद्र जब आगे बढ़ा तो उसे ऐसा लगा कि वह हवा पर पैर रख कर चल रहा था। जिस धरातल पर वह खड़ा था वह भी उस के पैरो के नीचे से, चीवर का त्याग करते ही, गायब हो गया था और अभी उसके लिए दूसरी धरती पैदा नहीं हुई थी। डाल से अलग हो कर धरती पर गिरने से पहले

किसी फल की जो स्थिति होती है वही शून्य स्थिति शीलभद्र की थी। मानव के लिए शून्य-स्थिति भयावह होती है।

वह आगे बढ़ता जा रहा था, शराबी की तरह उसके पांव लड़खड़ा रहे थे। अब वह "मूलगन्ध कुटी" के सामने पहुँच गया जिसके भीतर भगवान् बुद्ध विश्राम कर रहे थे। वह कुटी पवित्रता और श्रेष्ठता में संसार के किसी भी देवस्थान से कम न थी। शीलभद्र ने दूर से ही धरती पर सिर रख कर प्रणाम किया, वह आगे बढ़ा। अब वह मूलगन्ध कुटी के निकट था। वहाँ का वातावरण धूप और फूलों की महक से स्वर्ग के वातावरण का सा गौरव पा रहा था। चारों ओर अशेष शान्ति थी—ऐसा जान पड़ता था कि संसार का कोलाहल मूलगन्ध कुटी तक या तो पहुँचता ही नहीं था और पहुँचता भी था तो शान्ति में बदल जाता था।

खड़ा-खड़ा एक टक शीलभद्र मूलगन्ध कुटी को देखता रहा। आनन्द और श्रद्धा से उसका हृदय सराबोर हो गया। वह चन्दन के शीतल वृक्ष के नीचे से निकल कर हवन-कुंड में कूदने जा रहा था। एक ओर तपस्या की शान्ति थी तो दूसरी ओर मातृ-भूमि वैशाली की पुकार। दोनों धर्मों में से कौन-सा धर्म ग्रहण करने योग्य है यह फैसला शीलभद्र को करना था—आत्मोद्धार का धर्म या मानवोद्धार का धर्म। यदि वह सब की शरण में रहता तो उसकी आत्मा का उद्धार होता और वैशाली जाकर वह वहाँ की जनता की साम्राज्यवादी-तलवार से रक्षा कर सकता था। अपनी मातृ-भूमि को अजातशत्रु जैसे शासक की बाँदी बनाये जाने में रोकने के प्रयत्नों में योग दे सकता था। वह विचारों के उत्थान पतन के आघातों प्रत्याघातों में बहुत देर तक पीड़ित रहा और अन्त में अपने चीवर और पात्र मूलगन्ध कुटी के सामने रखकर हाथ जोड़ कर बोला—"भगवान् जन सेवा सभी धर्मों का तत्व है। मैं आत्मोद्धार के मार्ग पर आरूढ़ रह कर भी जन-उद्धार के कार्य कर सकता हूँ किन्तु चीवर पहन कर यह संभव नहीं है। मैं समझता हूँ यह वस्त्र तो भूतमात्र के कल्याण

के लिये प्रेरित करता है और मैं जाता हूँ केवल वैशाली के कल्याण और उसके शत्रुओं का अकल्याण करने अतः चीवर की पवित्रता और गौरव-रक्षा खतरे में पड़ जायगी। आपके चरणों में थाती की तरह अपना 'कल्याण' सौंप कर जा रहा हूँ, जब लौटूँगा तो मेरी थाती मुझे मिल जाय यही प्रार्थना है।"

इतना बोल कर शीलभद्र ने धरती से सिर लगा कर प्रणाम किया। भरी गृहस्थी और लाखों की संचित सम्पदा का त्याग करते समय शीलभद्र को इतनी मनोव्यथा का सामना नहीं करना पड़ा था। उसे उतना ही कष्ट हुआ था जितना किसी नाटक के बीच से ही किसी को उठ कर जाना पड़े किन्तु चीवर का त्याग करना उसके लिए ऐसा ही था जैसे किसी को अपनी खाल अपने हाथों से उतारनी पड़े!!!

सभी जीव अपने खास घेरे के भीतर ही रह कर कर्म करते हैं किन्तु मानव के लिए कोई घेरा नहीं है—वह सब कुछ कर सकता है सब कुछ बन सकता है, सब कुछ प्राप्त कर सकता है सब कुछ लुटा सकता है—वह सम्राट् भी है और अनागरिक सर्वस्वत्यागी भी।

शीलभद्र ने खड़े होकर फिर मूलगन्ध कुटी को देखा और अपने शरीर को झटका दे कर दूसरी ओर रख कर लिया। वह एक शरीर का त्याग कर के दूसरे शरीर की खोज मे तेजी से आगे बढ़ता जा रहा था—वह काल्पनिक काया उसे मिलेगी भी या नहीं यह कौन जाने, किन्तु शीलभद्र ने एक शरीर का तो त्याग कर ही दिया जिसे उसने स्वयं अपने लिए उपयुक्त समझ कर ग्रहण किया था। पहली बार जब उसने भिक्षु बन कर अपनी परम साध्वी और रूप-श्री सम्पन्न जाया का त्याग किया था तो उसके भीतर पत्नी के लिए जो स्थान था वह रिक्त नहीं हुआ था। उत्पला ने भी भिक्षुणी का चीवर धारण कर लिया था। दोनों दोनों से अलग रहते थे किन्तु दोनों यह अनुभव करते रहते थे कि उनका सत्य आस-पास कहीं न कहीं है किन्तु उस दिन जब शीलभद्र पत्नी से अलग हुआ तो उसे भयानक आघात का सामना करना पड़ा

क्योंकि अब वह अन्तिम रूप से उसका त्याग कर रहा था—यह त्याग उसके लिए हृदय-विदारक था और शायद उत्पला के लिए भी। दोनों एक दूसरे की उल्टी दिशा के यात्री बन गये थे—यों तो वे साथ-साथ चल रहे थे यद्यपि दोनों के रास्ते समानान्तर थे—समानान्तर रेखायें कभी भी एक दूसरे से नहीं मिलतीं।

शीलभद्र के सामने वैशाली था और उत्पला के सामने निर्वाण। एक का आधार प्रत्यक्ष था और दूसरे का परोक्ष, एक का विश्वास प्रत्यक्ष की ओर प्रेरित करता था और दूसरे का परोक्ष की ओर किन्तु वे दोनों विश्वास की ही धरती पर टिके हुए।

अब हम उस गुप्त घर की ओर चलें जहाँ हमने चंचरी वेश्या को देखा था।

आधी रात को तीर्थंधर दबे पैरों से चंचरी के घर की ओर चला—जैसे शिकार पर हमला करने के लिए शेर अपने को झाड़ियों में छिपाता हुआ निःशब्द आगे बढ़ता है। चंचरी मदिरा का पात्र आगे रखे बैठी थी और उसका घिनौना चाचा अपने गंदे व्यक्तित्व से वातावरण को अत्याधिक गन्दा बना रहा था—दोनों धीरे-धीरे पी रहे थे। कर्महीन समय को काटने का यही बहाना उनके लिये था।

चंचरी बोली—"इस अन्धकूप में अब रहा नहीं जाता चाचा।"

चाचा बोला—"सुन री सुन्दरी, एकान्त में तू मुझे चाचा न कह। तेरे बाप का ही पता नहीं है तो मैं तेरा चाचा कैसे बन गया।" इतना बोल कर उस गंदे वृद्ध ने मुस्करा दिया।

चंचरी आँखें मटका कर बोली—"तुम्हारा छोटा भाई मेरा पिता था या नहीं, सच कहना।

चाचा सोच कर बोला—"हाँ, यह बात सही है। किन्तु मैं तेरा चाचा बनना पसन्द नहीं करता।"

चंचरी अँगड़ाई लेकर कहने लगी—"तो मैं अपने चाचा को प्रेमी कैसे बना लूँ—कहो।"

चाचा कहने लगा—"तू वेश्या है। जिस तरह शासक का कोई अपना नहीं होता, कोई नाता-रिश्ता वह नहीं मानता, उसी तरह वेश्या भी किसी की कोई नहीं है।"

चंचरी ने पूछा—"एकाध उदाहरण तो दो।"

चाचा ने तड़ से जवाब दिया—"अजातशत्रु का बाप था बिम्बसार जिसे चोर-डाकू की तरह उसने कारागार में बन्द करके मार डाला। क्या पुत्र का यही धर्म है? पितृ पूजा का यह विधान कहीं भी देखा-सुना नहीं गया। इससे सिद्ध हुआ कि शासक का न तो बाप होता है और न पुत्र—वह सब से परे है जैसे वेश्या सब से अलग है।"

चंचरी हार मानने ही वाली थी कि तीर्थंधर ने घर में छाया की तरह प्रवेश किया। उसके साथ दोनों चंडाल भी थे जो जीवित पिशाच की तरह डरावने दिखाई पड़ते थे।

तीर्थंधर ने घर में आते ही चंचरी के चाचा की ओर इशारा किया—"इसे बाहर ले जाओ।"

दोनों चंडाल उछल कर उस वृद्ध पर चढ़ बैठे। वह चिल्ला भी न सका और उसका गला दबा दिया गया। इसके बाद उसे घसीटते हुए वे दोनों बाहर चले गये। क्षण भर में यह काण्ड हो गया। चंचरी डर के मारे आँखें बन्द करके फर्श पर लुढ़क गई तो तीर्थंधर दोनों हाथ पसार कर उसकी ओर धीरे-धीरे बढ़ा—उसके पैर मजबूती से फर्श पर पड़ रहे थे और उसके शरीर की मांस-पेशियाँ तन गई थीं। तीर्थंधर की दोनों आँखें जपापुष्प की तरह लाल-लाल थीं और फैलाये हुए दोनों हाथों की टेढ़ी-मेढ़ी उंगलियाँ फौलाद की उंगलियों की तरह डरावनी दिखलाई पड़ती थीं।

वह चंचरी के निकट झुका और उसे उलट कर सीधा किया। चंचरी ने अपने दोनों हाथों से कस कर चेहरे को ढाप रखा था। वह

सीधा नहीं होने के लिये शरीर को कड़ा करके जोर लगा रही थी तो तीर्थंधर बोला—'प्रेमी को देख कर इस तरह रूठा नहीं जाता प्रियतमे !"

चंचरी करीब-करीब अर्धमूर्छितावस्था में थी। उसके हाथ ढीले पड़ गये और उसका सुन्दर चेहरा प्रदीप के प्रकाश में पीले कमल की तरह दिखलाई पड़ने लगा—ऐसा कमल जो तालाब के जल सूख जाने के कारण, सूर्य के उत्ताप से पीला पड़ गया हो।

तीर्थंधर चंचरी के ऊपर झुक कर बोला—"वाह, कितनी रूपवती है यह छोकरी !"

इसके बाद उसने अपनी उँगलियों से उसके ललाट पर से बालों को हटाया—ललाट पसीने से तर था और तवे की तरह गर्म हो रहा था। तेज साँस चलने के कारण चंचरी का उभरा हुआ वक्ष ऊपर नीचे हो रहा था। उस मूर्छित-सौन्दर्य को तीर्थंधर ने खड़े होकर देखा। उसके पैरों के पास एक परम रूपवती स्त्री पड़ी थी जो अपने तूफानी यौवन की लहरों में किसी को भी तिनके की तरह डुबा सकती थी, बहा सकती थी।

तीर्थंधर खड़ा-खड़ा देखता रहा। उसके भीतर जो भयानक भावनायें थीं वे ढीली पड़ने लगीं। उसकी आँखें स्वाभाविक हो गईं और होठों पर मुस्कान की रेखायें भी झलक पड़ीं। वह धीरे-धीरे बदलने लगा और एक हिंसक-राक्षस से रस-विह्वल-मानव बन कर चंचरी के निकट बैठ गया। अभी तक चंचरी मूर्छित थी। तीर्थंधर धीरे-धीरे उसके नरम कोमल हाथ को अपने हाथ में लेकर दबाने लगा। चंचरी ने काँप कर ज़रा-सी आँखें खोलीं और फिर मूर्छित हो गई। तीर्थंधर एकटक उसकी ओर देख रहा था। रात बीतती जा रही थी, समय बीतता जा रहा था। कुछ देर बाद दोनों चाण्डाल फिर अन्दर आये उनमें से एक ने कहा—"उसे ठिकाने लगा दिया—अब क्या करें ?"

तीर्थंधर जैसे नींद से चौंक पड़ा। वह घबरा कर बोला—"बाहर ठहरो, मैं भी आया।"

दोनों चाण्डाल बाहर चले गये तो तीर्थंधर ने प्रयास करके अपने आप को फिर बदल डाला—जिस की उसे आदत थी। वह अपने को पशुता के स्तर पर जिस आसानी से पहुँचा सकता था उतना आसान उसके लिए न था मानवता के स्तर पर टिकना। मानव जैसा चाहता है वैसा अनायास ही बन जाता है—यह तो सीधी सी बात है।

तीर्थंधर फिर पिशाच की तरह हो गया। वह एकाएक उछल कर चंचरी की छाती पर चढ़ बैठा और अपने दोनों हाथों से उस का सुन्दर कोमल गला पकड़ कर घोटने लगा। चंचरी की मूर्छा टूट गई—वह हाथ-पैर पटकने लगी मगर तीर्थंधर पूरा जोर लगा कर उस का गला घोट रहा था। चंचरी की आँखें फट गईं, जीभ बाहर निकल गई तथा मुँह से रक्त-मिश्रित फेन बाहर निकलने लगा। उसका लुभावना चेहरा मृत्यु की भयानक वेदना से भयानक हो गया—ऐसा भयानक जिसके भीतर से कायरता झलक रही हो। पूरा जोर लगा कर चंचरी अपना सिर धुन रही थी और हाथ-पैर पटक रही थी पर तीर्थंधर ने उसे लाचार कर रखा था। दोनों घुटनों के दबाव से उसकी छाती की हड्डियाँ टूटती जा रही थी और गर्दन की नसें भी फट चुकी थीं, दम घुट गया था। तीर्थंधर आँखें फाड़ कर और दाँतों से अपना होठ दबा कर चचरी का गला घोटे जा रहा था।

कुछ देर के बाद चचरी का अङ्ग-अङ्ग ढीला पड़ गया। हाथों-पैरों का पटकना भी करीब-करीब बन्द हो गया, केवल उँगलियाँ हिल रही थी, मुँह से लाल-लाल गरम खून बाहर गिर रहा था और आँखों की तनी हुई पलकें भी ढीली पड़ गईं। साँस लेने के लिए वह क्षण भर रुका और फिर अपने बल को पजों पर केन्द्रित करके उस अभागी नवयुवती का गला घोंटने लगा। तेल समाप्त हो जाने के कारण इधर प्रदीप भी बुझने लगा। तीर्थंधर ने गर्दन घुमा कर प्रदीप की ओर देखा। वह अब चचरी की छाती को अपने दोनों घुटनों से दबा कर बैठा था और गर्दन दबोच रहा था।

अब चंचरी का शरीर बिल्कुल ही स्थिर हो गया। उसके मुँह से निकला हुआ खून फर्श पर सूख गया था। तीर्थंधर उठ कर खड़ा हो गया। वह झुक कर चंचरी की मृत देह को बड़े गौर से देखने लगा। तीर्थंधर हाँफ रहा था पर उसका चेहरा अब भी भयानक हो था।

दोनों चाण्डाल फिर अन्दर आये और दरवाजे पर खड़े होकर देखने लगे। तीर्थंधर हाँफता हुआ बोला—"स···ब · ठी···क ···हो···ग··· या।" चाण्डालों में से एक ने पूछा—"उस बुड्ढे की लाश को क्या करें ?"

तीर्थंधर बोला—"इस घर में जो कुआँ है उसमें ···डाल···दो। एक बार···और··· देख··· लूँ।"

तीर्थंधर ने चंचरी की नाक के पास हाथ ले जा कर देखा। अब उसके शरीर में प्राणों के लौटने का खतरा न था।

गुलाम और आजाद

गुलाम और आजाद में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य है। गुलाम सदा अपने मालिक का हित सोचता रहता है और जूतों के जोर से सोचता है जबकि आजाद राष्ट्र का हित सोचता है और अपनी पूरी श्रद्धा के साथ सोचता है। गुलाम का स्वर्ग आकाश में रहता है और आजाद का स्वर्ग उसका अपना देश होता है—जिस मिट्टी से उसकी काया बनी और जिस मिट्टी की गोद में वह अन्तिम साँस लेता है।

पाटलिग्राम में मगध की सेना का जमाव होने लगा। शिक्षित योद्धाओं ने अपने-अपने हथियार सम्भाले अपने पालनहार के इशारे की प्रतीक्षा में। अजातशत्रु रथ पर चढ़ कर सेना का निरीक्षण करने चला—साथ में महामात्य वर्षकार भी था।

रास्ते में अजातशत्रु ने महामात्य से पूछा—"देवदत्त बहुत ही गिरा हुआ आदमी है। उसने मेरे पिता की मृत्यु का सम्वाद भी एक सप्ताह तक मुझे नहीं दिया। उसे क्षमा नहीं कर सकता।"

वर्षकार बोला—"महाराज, राजनीति में शरीफों से अधिक गुण्डों की आवश्यकता रहती है। भले आदमी तो राजनीति की दलदल में पड़ कर प्रायः नष्ट हो जाते हैं। देवदत्त एक उपयोगी गुण्डा है। उसे तृप्त करके रखिये।"

अजातशत्रु का मन क्रोध से उबल रहा था। वह बोला—"आप क्या कहते हैं महामात्य जी, वह तो पक्का नर-पिशाच है।"

वर्षकार ने जवाब दिया—"राजनीति कोई अश्वमेध यज्ञ है जो वेद-वेदांग-पारंगत् विद्वानों को बुला कर आप आदर दीजियेगा ? मैं कहता हूँ, आप अपने चारों ओर जितना ही अधिक पतितों को जुटा कर रखेंगे उतना ही आप का शासन मजबूत होता जाएगा। हाँ, आप पिशाचों का उपयोग कीजिये और हाथ में एक मजबूत डण्डा भी रखिये। वे ज़रा भी बहकें तो ठीक कर दिया कीजिये।"

अजातशत्रु का मन तृप्त नहीं हुआ। वह बोला—"पतितों के बल पर कहीं शासन चलता है ?"

"खूब चलता है,"—वर्षकार बोला—"आप कोई गणतन्त्र के चुने हुए अध्यक्ष नहीं हैं, मूर्धाभिषिक्त सम्राट् हैं। यह आपको सदा ध्यान में रखना है।"

अजातशत्रु झुंझला उठा। उसे ऐसा लगा कि उसका महामात्य प्रकारान्तर से वैशाली गणतन्त्र की प्रशंसा कर रहा है। वर्षकार अजातशत्रु की बदली हुई त्योरियों को देखकर सहमा नहीं—वह एक ऐसा कूटनीतिज्ञ था जिसने जीवन के पचास साल नीचता का अभ्यास करने में लगाये थे—वह एक छंटा हुआ वृद्ध व्यक्ति था।

वर्षकार फिर बोला—"महाराज, अब मेरे दिन समाप्ति पर हैं। आप यह सदा ध्यान रखें कि लोगों को धोखा देने के लिये कुछ पंडितों को भी अपने निकट रखें, धर्मचर्चा भी कर लिया करें मगर शासन न तो पंडितों के सिद्धान्तों के अनुसार चलता है और न धर्म-धर्म चिल्लाने से। जो धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य सब को चूल्हे में झोंक कर, भयानक से भयानक और घृणित से घृणित कर्म कर सकता है, वह भी हँसते-हँसते, वही शासक का खतरनाक खेल खेल सकता है। आप भी देवदत्त को पाल पोस कर रखिये। वह बहुत ही उपयुक्त राक्षस है, मगर रहिये सावधान !"

अजातशत्रु ने नरम स्वर में पूछा—"महामात्य जी, क्या आप सोच कर मुझे ऐसी सम्मति दे रहे हैं ?"

वर्षकार ने झट से अपना यज्ञोपवीत हाथ में लेकर कहा—"मैं शपथ खाता हूँ महाराज, मैंने सोच कर ही आपको उपयुक्त सम्मति दी है।"

अजातशत्रु सिटपिटा गया। वह सिर झुका कर बोला—"उफ् ! आप यह क्या करते हैं !"

वर्षकार मुस्कराया। उसका तीर निशाने पर बैठा। जो कुछ उसने कहा था, कर दिखलाया। अब रथ पाटलिग्राम के सैनिक शिविर के निकट पहुँच रहा था। गंगा और सोन के किनारे दूर-दूर तक शिकारे फैले हुए थे—हजारों नावें गंगा में बँधी थीं। वे नावें युद्ध के लिये विशेष रूप से बनवाई गई थीं। शरद् काल की मन्दगामिनी गंगा की शोभा विचित्र थी। गंगा और सोन के संगम पर बसे हुई पाटलिग्राम में भी उथल-पुथल मची हुई थी। झुंड के झुंड सैनिक इधर उधर घूम रहे थे और आक्रमण करने की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सैनिकों को बतलाया गया था कि वैशाली विजय के बाद वे जी भर कर लूट सकेंगे—श्री और सुन्दरी दोनों। लूट का माल उनका होगा। उन्हें यह भी विश्वास दिलाया गया था कि वैशाली सोने और रत्नों से भरा हुआ एक राज्य है। सैनिक जितना भी चाहेंगे नौका पर भर-भर कर इस पार ला सकेंगे। सुन्दरियों की भी कमी नहीं है और न सम्पदा का ही अभाव है।

किसी सैनिक से यह नहीं कहा गया कि युद्ध में केवल धन ही या सुन्दरी ही नहीं प्राप्त होती, चबाने के लिए लोहे के चने भी मिलते हैं। गुलाम सैनिकों का ध्यान केवल लूट के माल की ओर था मौत की ओर नहीं, जो उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। आजाद देश के सैनिकों का ध्यान देश की प्रतिष्ठा और गौरव की ओर रहता है—वह विजय या मौत—इन्हीं दोनों में से एक को पसन्द करते हैं। लूट का अवसर या पलायन गुलाम सैनिकों का लक्ष्य होता है।

अब वैशाली की ओर चलें।

मगध का आक्रमण होने ही वाला था, क्षण प्रतिक्षण इसकी संभावना बढ़ती जा रही थी किन्तु वैशाली के नागरिक बड़ी शान्ति से अपना दैनिक काम करते जा रहे थे। उनका कर्तव्य स्थिर था—अपने और अपने गणतन्त्र के अस्तित्व के लिए जीना और मरना। वे "यह करें या वह करें" की उलझन से मुक्त थे। उनके लिये पराजय जैसी कोई चीज थी ही नहीं—विजय या मृत्यु यही उनका निश्चित पथ था। चंचलता, उथल-पुथल, भय, अव्यवस्था वहीं पैदा होती है जहाँ के नागरिकों का दिमाग किसी निश्चित केन्द्र पर स्थित नहीं होता—ऐसे केन्द्र पर जो उनको प्रकाश देता हो।

धर्मेश्वर ने रथ पर बैठ कर अपनी सैनिक तैयारी को देखा—उन्हें प्रत्येक समर्थ नागरिक तैयार नजर आया। धर्मेश्वर को ऐसा लगा कि वैशाली का प्रत्येक घर युद्ध का एक मोर्चा बनाने की ताकत रखता है क्योंकि जन-जन की एक ही आवाज है—स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे।

शान्ति के दिनों वाली सनातनी और राजनैतिक गुत्थियों का कहीं भी पता न था। बालू के कण, बाढ़ से मुकाबला करने के लिये, मानो एक दूसरे में चिपक कर फिर चट्टान बन गये हों। धर्मेश्वर ने अध्यक्ष कीर्तिरक्षित से जाकर सारी बातें सुनाईं। उन्होंने भी घूम फिर कर देखा और अपने महामन्त्री से कहा—"आचार्य, हमारी जनता की नैतिकता के पहाड़ से टकरा कर हमारे शत्रुओं के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार हो जाएँगे।"

धर्मेश्वर ने शान्त स्वर में कहा—"युद्ध में तलवार से अधिक जनता का नैतिक बल काम देता है। स्वतन्त्र देश के नागरिकों को झुकाया नहीं जा सकता, भले ही उन्हें चूर-चूर कर डाला जाय। हम विजयी होंगे और अवश्य!"

नीतिरक्षित ने कहा—"मगध का महामात्य वर्षकार अत्यन्त चतुर

व्यक्ति है। वह नवयुवक सम्राट् को गलत दिशा में जाने से रोकता क्यों नहीं ?"

धर्मेश्वर बोला—"राजा का बल परिषद है और परिषद का बल है जनमत ! जिस देश का शासक स्वेच्छाचारी होता है वह परिषद के सिर पर लात रखकर खड़ा रहता है और जनता के रक्त की अन्तिम बूँद तक को अपने हित के लिए काम में लाता है। वर्षकार का वहाँ क्या स्थान है महोदय ! वह किसी तरह अब तक अपने को कायम रख सका, यही उसकी सब से बड़ी कूटनीतिज्ञता है !"

नीतिरक्षित ने कहा—"आचार्य का कथन सत्य है। स्वेच्छाचारी शासन में सब से अधिक दुर्दशाग्रस्त वे ही होते हैं जो ज्ञान, शील, ईमानदारी और न्यायप्रियता का आदर करते हैं। शोहदों की जमात ही वहाँ फूलती-फलती है जैसे अपने उचक्कों के साथ देवदत्त !"

अध्यक्ष के निवासस्थान पर यह चर्चा हो रही थी और मुहल्ले भर की चाची देवप्रिया गालियाँ बकती हुई अपने घर में घुसी। देवप्रिया के सात पुत्र थे, वे सभी युवक और बलवान थे। उन में कोई आचार्य था तो कोई तक्षशिला का स्नातक। एक दो व्यापारी भी थे। देवप्रिया मुहल्ले की चाची थी और उसका आदर-सत्कार सभी करते थे। ऐसा कौन था जो चाची की आज्ञा का भूल से भी उल्लंघन करे। मुहल्ले भर की बहुएँ चाची को देखते ही हाथ जोड़ कर खड़ी हो जाती थी। चाची का काम था इस घर से उस घर में घूमना और बहुओं पर शासन करना—घर में सात-सात बहुएँ थी ही। चाची अपनी बहुओं को यह कह कर धमकाया करती थी कि—मेरे लिए पूरा मुहल्ला घर है, सैकड़ों बहुएँ हैं, सैकड़ों नाती-पोते हैं। मैं तुम लोगों की परवाह नहीं करती।" बात भी सच थी। चाची का ऐसा ही रोबदाब था। धनी-गरीब सभी चाची का मुँह जोहा करते थे—जिसके घर में चाची गई गृहस्वामी अपने को पुण्यवान् मानने लगता था।

चाची की डाट-डपट में जितना अपनापन भरा होता था, जितना

स्नेह भरा होता था, इसका सुख प्रत्येक परिवार उठाने के लिए लालयित रहता था।

उस दिन चाची क्रोध से हाथ झाड़ती हुई घर में घुसी। बहुएँ उल्लासपूर्वक बैठी अस्त्र-शस्त्र साफ कर रही थीं—युद्धोत्सव जो होने वाला था। बहुओं ने जब अपनी सास को गर्जन-तर्जन करते देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी सास गंगा की तरह शान्त और शीतल स्वभाव की थीं किन्तु उस दिन क्या हो गया जो स्वभाव के प्रतिकूल रोष का प्रदर्शन कर रही हैं। किसी में साहस नहीं हुआ कि कुछ पूछें। देवप्रिया अपने आसन पर बैठ कर रोने लगी तो घर में और भी बेचैनी फैल गई। बड़ी बहू ने साहस करके पूछा—"माता जी, आज इतना उद्विग्न क्यों हो रही हैं?"

देवप्रिया बोली—"बेटी, मेरे सौभाग्य से जलने वाला कोई इस पुण्यनगरी में न था किन्तु आज सूत्रनायक की माँ बहुत ही चुभाती हुई बात बोल गई।"

बहू ने पंखा झलते-झलते पूछा—"उन्होंने क्या कहा माता जी, वे तो बहुत ही उच्च विचार की आदर्श माता हैं।"

"यही कहा"—देवप्रिया ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"यही कहा कि चाची तू बहुत बड़ा सौभाग्य लेकर धरती पर आई है। तेरे सातों पुत्र युद्ध भूमि में जा रहे हैं और मैं एक अभागी हूँ जो मेरी एक ही सन्तान है। मेरा एक ही पुत्र जा रहा है।"

बहू बोली—"माता जी, सचमुच आर्य सूत्रनायक की माता का यह दुर्भाग्य है।"

देवप्रिया कहने लगी—"बेटी, यदि मेरे चौदह क्या चौदह लाख पुत्र होते तो आज जो संकट आने वाला है उसे केवल मेरे ही पुत्र दूर कर देते। मैं तो स्वयं कराह रही हूँ कि भगवान् ने मुझे सात ही पुत्र क्यों दिये!"

बहू ने शान्त गम्भीर स्वर में कहा—"मैं और सात जनी हम जो हैं। आप तो चौदह पुत्रों की माँ हैं माता जी ! शान्ति काल में हम अबला हैं किन्तु संकट काल में हमारी गणना पुरुषों के साथ होनी चाहिये।"

देवप्रिया उठी और बहू का ललाट चूम कर बोली, "मैं सूत्रनायक की माँ से जाकर कहती हूँ कि मैं अपने तीन पुत्र तुझे देती हूँ—अब चार पुत्र मेरे रहे और चार तेरे। तू दुःख मत कर !

इतना बोल कर चाची परम सन्तोष पूर्वक फिर घर से बाहर हो गईं। बहुएँ प्रसन्न हो कर अपने काम मे लग गईं।

इस तरह वैशाली के नागरिकों ने मगध की सेना से लोहा लेने की व्यवस्था स्वाभाविक रीति से कर डाली। न तो शासन पर भार पडा और न राज्य मे खलबली ही कही मची ! विलास की सामग्री बेचने वाली सारी दूकाने आप से आप बन्द हो गईं—उसमें शस्त्रों की बिक्री होने लगी। जनता ने अपना पूरा ध्यान आने वाले संकट को मिटाने की दिशा मे लगा दिया। किसी से कोई कुछ भी पूछता न था—सभी अपने-अपने हिस्से का काम अपने मन से करते थे। जनपद-कल्याणी ने अपने युद्ध-नृत्यो और वीरता पूर्ण गीतों से जनता में उन्माद सा भर दिया। जनपद-कल्याणी का शृंगार भी लुभावना नही, चित्त मे हलचल पैदा करने वाला नही, वीरतापूर्ण था। वह घोडे पर बैठ कर इस मोर्चे से उस मोर्चे पर जाती और अपने नृत्य तथा गीत से सैनिको को यह याद दिलाती कि वे एक परम स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं—वे किसी के राज्य की रक्षा के लिये नही, अपने राज्य की रक्षा के लिये विजय या मौत का वरण करें।

स्वतन्त्र देश के सिपाही कभी भी नही हारते—पराजय की लज्जा तो गुलाम भोगते हैं। नागरिको ने वृद्धों, बच्चो, रोगियों को छोड कर एक बार भोजन करके बचा हुआ अन्न सैनिकों-शिविरो मे पहुँचाना

आरम्भ कर दिया। नगर के महा श्रेष्ठी ने बार-बार घोषणा की कि दस वर्ष तक युद्ध हो फिर भी अन्न की कमी नहीं हो सकती किन्तु नागरिकों की भावना के आगे तो वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष, महामंत्री और परिषद तक को सिर झुकाना पड़ा।

युद्ध एक राष्ट्रीय-त्योहार बन गया। वैशाली का यह हाल था और मगध के गांव-गांव में राज्य के घुड़ सवार जा कर बलपूर्वक अन्न और धन बटोर रहे थे। देवदत्त भी घोड़े पर चढ़कर गांव-गांव घूम रहा था, उसके साथ कुर्मायन भी था। वे सभी अन्न और धन लूट रहे थे। किसान हाय-हाय करते थे और जी भर कर कोसते थे। कई जगह तो विद्रोह का भी विस्फोट हुआ जिसे तलवार की तीखी धार ने जहां का तहाँ दबा दिया। देवदत्त का यह मत था कि युद्ध को धीरे-धीरे चला कर वैशाली वालों की रीढ़ तोड़ी जाय किन्तु वर्षकार का मत था कि ऐसा करने से घोर नर संहार होगा और दोनों ओर की जनता ऊब उठेगी तथा उनका रोष मगध-साम्राज्य के लिये घातक होगा। क्रोध स्थायी नहीं होता किन्तु घृणा बहुत दिनों तक टिकती है। योग्य शासक अपने को जनता के क्रोध का पात्र बना कर टिक सकता है किन्तु घृणा का पात्र बना कर अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकता। क्रोध सूखी लकड़ी की आग है जो धधक कर राख बन जाती है किन्तु घृणा 'भूसी' की दबी आग है जो बहुत देर तक टिकती है और अधिक शक्तिशाली होती है।

अजातशत्रु चुप था। वह विजय चाहता था। वैशाली को अपने पैरों से किसी भी मूल्य पर रौंदना चाहता था। वह भीतर ही भीतर उबला करता था। क्रोधी मनुष्य कभी भी परिणाम की ओर नहीं देखता—वह एक झटके में ही कुछ कर डालना चाहता है। अजातशत्रु भी यही चाहता था कि जन-धन बटोर कर युद्ध में झोंक दिया जाय, परिणाम चाहे जो भी हो। उसने यही किया भी !

एक दिन मगध की सेना अंधेरी रात के पर्दे में छिप कर गंगा पार

करने लगी। हजारों नावें थी—वे नावें गंगा की तरंगो को चीरती हुई उस पार जाने लगी। जैसे ही ये नावें पार के भीतर पहुँची सनसनाते हुए वाणो से इनका भयानक स्वागत हुआ। देखते-देखते शोर मच गया, बहुत सी नावें उलट भी गईं और वाणों से छिदे हुए आहत पानी मे डूबने-उतरने लगे। तट पर से ऐसी भयानक शर-वृष्टि हो रही थी कि मगध की सेना उसके सामने टिक न सकी। ऊँचे कगारे पर से सनसनाते हुए वाण आ रहे थे और नावो पर जो सैनिक सवार थे उनके शरीर को छलनी बना रहे थे। तट की ओर से एक भी शब्द सुनाई नहीं पड़ता था—ऐसा मालूम पड़ता था कि मगध के सैनिको का दुर्भाग्य वाण मार रहा है, कोई व्यक्ति नही है आक्रमणकारी।

आधी रात के बाद से यह सत्यानाशी कांड शुरू हुआ और उषा की लाली के फैलते ही गंगा का पानी मगध के सैनिकों के खून से और उषा की लाली से लाल हो गया—यह बतलाना कठिन हो गया कि गगा का लाल जल उषा की ललाई से है या मगध के सैनिकों के रक्त से ?

बहुत सी नाव डूबी, उलट गईं और कुछ सैनिक तट पर भी उतर पड़े मगर वे वाणो की जोरदार वर्षा के आगे टिक न सके, बालू पर लोट गये। पहली पाली मे जितने सैनिको ने वैशाली पर आक्रमण किया था वे करीब-करीब मौत का कलेवा बन गये।

वाणों की बौछार रुक गई। गंगा की शान्त छाती मुर्दों और नावों से डरावनी हो गई। यह समाचार अजातशत्रु को मिला। वह पाटलिग्राम से सेना का संचालन कर रहा था। वह समाचार सुनते ही इतना उत्तेजित हो गया कि जो आहत सैनिक भग्नदूत बन कर आया था उसका सिर उसने अपनी तलवार से काट लिया। वह पराजय का सवाद सुनते-सुनते करीब-करीब पागल सा हो गया था।

हार पर हार, फिर हार! प्रधान सेनाध्यक्ष सिंहेश्वर वहीं पर

खड़ा था। उसने कहा—"महाराज, दूत का वध करना उचित न था।"
अजातशत्रु पैर पटक कर बोला—"पराजय पर पराजय होना उचित है ? मैं विजय चाहता हूँ, जीत चाहता हूँ, वैशाली का विनाश चाहता हूँ।"

सिंहेश्वर ने गम्भीर स्वर में कहा—"मेरे सब से शिक्षित और बहादुर सिपाही मारे गये। गंगा पार करना आसान नहीं है।"

अजातशत्रु ने कहा—"फिर सेना भेजिये। मैं साथ जाऊँगा।"

सिंहेश्वर ने कहा—"आप नहीं जा सकते।"

दुर्भाग्य का परिहास

अजातशत्रु की यह हार दुर्भाग्य का परिहास था—वह चौथी बार वैशाली की वज्र-दीवार से टकरा कर लहू-लोहान सिर लिये लौटा। उसकी सेना का सबसे मुख्य अंश समाप्त हो गया। युद्ध के दूसरे दिन गंगा की सूनी कछार गीधों से भर गई—आकाश गीधों से चितकबरा हो गया। इस पार खड़ा होकर अजातशत्रु देख रहा था कि उस पार उसकी सेना की लाशों को गीध और कौए नोच-नोच कर खा रहे हैं—लाशें तो उसे नजर नहीं आती थीं किन्तु हजार-हजार डरावने गीधों को आकाश में चक्राकार तैरते हुए वह क्रोध और शोकभरी आँखों से देख रहा था। इस चढ़ाई में उसका सर्वाधिक योग्य सेनापति प्रेक्षण भी खेत रहा था जो इस आक्रमण का संचालन कर रहा था। अजातशत्रु बौखलाया हुआ राजगृह पहुँचा तो दिन के उज्ज्वल प्रकाश में राजपथ पर जाने का साहस उसमें न था। पराजय का कलंक-तिलक ललाट पर लगा कर कोई भी शासक अपने राज्य में मुँह दिखलाना पसन्द न करेगा।

सारी राजधानी शोक मग्न थी। घर-घर से रोदन-क्रन्दन की करुणा-पूर्ण ध्वनि निकलती थी। दो दिनों तक अपने स्वजनों की प्रतीक्षा करके हज़ारों विधवायें, पुत्रहीना मातायें, वंशहीन वृद्ध और पिताहीन नन्हे-मुन्ने गंगातट की ओर श्रद्धा तर्पण करने लगे। वह दृश्य अत्यन्त हृदय विदारक

था जब वृद्धा मातायें और कल की आई दुल्हनें छाती पीट-पीट कर विलाप करती थीं। यह बतलाना कठिन था कि वे अपने मारे गये स्वजनों के लिये रोती थीं या अपने शासक की राज्य-लिप्सा के लिये विलाप करती थीं; वे श्रद्धा-तर्पण अपने मृत सम्बन्धियों के लिए करती थीं या अपने शासक के नाम पर तर्पण देती थीं जो उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए, अधिक धन लूट कर अधिक सुख मनाने के लिये, अधिक से अधिक मानवों पर हुकूमत जमाने के लिये जन-धन को युद्ध के हवनकुंड में डाल रहा था।

रात को अजातशत्रु फिर खुली छत पर चुपचाप चला गया—वह छत पर टिक न सका। युद्ध के पहले तक घर-घर से संगीत और वाद्य की ध्वनि-लहरियाँ उठा करती थीं, किन्तु उस दिन हवा से लिपटी हुई विलाप-ध्वनि ही उसे सुन पड़ती थी। अजातशत्रु को ऐसा लगता था कि रोदन की प्रत्येक ध्वनि उसे धिक्कार रही है। स्त्रियाँ रो नहीं रही हैं बल्कि रोदन के स्वर में उसे शाप दे रही हैं।

अजातशत्रु पागल की तरह छत पर इधर से उधर दौड़ कर नीचे उतर गया। वह झपटता हुआ एक कक्ष से दूसरे कक्ष में घूमने लगा। प्रहरी भय से थर-थर काँपते हुए अपने सम्राट् की व्यग्रता देख रहे थे। उन्हें विश्वास था कि या तो उनका राजा पागल हो गया है या आत्मघात कर लेना चाहता है। सर्वत्र आतंक फैला हुआ था। अजातशत्रु की इस विक्षिप्तावस्था की खबर प्रासाद के कोने-कोने में जंगली आग की तरह फैल गई—बुराई में अपने को फैलाने की बहुत ताकत होती है। समझदारों ने अपना सिर पीट कर कहा—'हाय अभागा सम्राट्।"

अजातशत्रु के हृदय पर पराजय का गहरा आघात था। वह सोच नहीं पाता था कि कैसे इस दर्द से वह छुटकारा पावे। जो व्यग्रता उसने खरीदी थी वह उसके रोम-रोम पर अधिकार करती जा रही थी। जैसे चंचलजल पर प्रतिबिम्ब नहीं उभरता, उसी तरह चंचल और उद्विग्न चित्त पर परिस्थिति की तस्वीर नहीं झलकती। और हम गलती यह करते हैं कि

विकल होकर बार-बार जल में डुबकियाँ मार कर उसमें चित्र खोजते हैं। परिणाम यह होता है कि वह जल स्थिर नही हो पाता और न हम परिस्थित को साफ तस्वीर ही उसमें देख पाते हैं। यह दोष हमारे व्यग्र मन का है जो स्थिर होकर प्रतीक्षा नही करता।

यही दशा थी अजातशत्रु की। इसी समय रंगमंच पर वर्षकार का प्रवेश हुआ। वर्षकार अत्यन्त शान्त भाव से धीरे-धीरे चलता हुआ स्वाभाविक रीति से आ रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि वह संसार से बिल्कुल ही तटस्थ और उदासीन है। आस-पास की घटनाओं का उस पर कोई असर नही है।

समर्थ कूटनीतिज्ञ का यह गुण है कि वह अपने को सदा स्थिर रखता है जिससे देखने वाले परिस्थिति की गम्भीरता या रूप-रेखा का कोई अन्दाज न लगा सकें। जो दूसरे को जितनी सफलतापूर्वक धोखा दे सकता है, धोखे मे रख सकता है वह उतना ही बड़ा बुद्धिमान् व्यक्ति माना जाता है—बुद्धिमान् और ज्ञानी मे अन्तर है, यह ध्यान में रखना चाहिये।

वर्षकार के आते ही अजातशत्रु शान्त हो गया। किसी व्यग्र रोगी के निकट जैसे उसका विश्वासी चिकित्सक चला जाय तो उसे शान्ति मिलती है उसी तरह अजातशत्रु को भी शान्ति मिली।

अजातशत्रु बोला—"महामात्य जी, यह तो बुरा हुआ।"

वर्षकार मुस्करा कर बोला—'बुरा क्या हुआ महाराज, वृक्ष को जोर लगा कर जड़ से उखाड़ फेंकना बलवान से बलवान मानव के लिए भी असम्भव है। लकड़हारा पहले उसकी डालियों को काट कर उसे हल्का बना लेता है तब जड़ पर कुल्हाड़े चलाता है। वैशाली गणतन्त्र एक विशाल वृक्ष है, आप यह न भूलें।"

बच्चों की तरह अजातशत्रु ने भोलेपन के साथ पूछा—"तो अब हम क्या करें।"

"यही बतलाने आया हूँ"—वर्षकार शान्त स्वर मे बोला—

"महाराज, आप हार-जीत को बिल्कुल ही व्यक्तिगत हानि-लाभ मान कर पीड़ित होते हैं, यह तरीका गलत है। यह तो जुआ है, हार भी होती है और जीत भी। एक बार की गलती को फिर से न दुहरायें यही राजनीति का मूलमन्त्र है।"

अजातशत्रु के दिमाग में जैसे गरम तेल खौल रहा था। उद्विग्न चित्त वाला मनुष्य न तो नीति-वाक्य सुनता है और सुनकर समझता ही है। जिस के घर में आग लगी हो वह तत्व-चिन्तन क्या करेगा? घबरा कर अजातशत्रु बोला—"महामात्य जी, क्या कारण है कि हम बार-बार पराजित हो रहे हैं?"

वर्षकार बोला—"महाराज, पहले हमने अपने बल पर विचार किया है। मुझे सन्तोष है कि हमारी तैयारियों में कहीं से भी दरार नहीं है।

अजातशत्रु ने सवाल किया—"फिर विफलता का क्या कारण है?"

अजातशत्रु के इस प्रश्न ने वर्षकार को और भी अधिक गम्भीर बना दिया। वह कहने लगा—"दूसरे पक्ष के बलाबल का गलत अनुमान हम ने बार-बार किया। बात यह है कि हम गणतन्त्र की खराबियों को ही जानते हैं—मन में द्वेष रहने के कारण उसकी अच्छाइयों को जानने का कभी हम ने प्रयास ही नहीं किया। हमारी लगातार पराजयों ने यह स्पष्ट कर दिया कि गणतन्त्र में गुण भी हैं। यदि बुराइयाँ ही होतीं तो हमारी बराबर हार क्यों होती। अच्छाइयों की चट्टान में ही टकरा कर हम ने सिर फुड़वाया।"

अजातशत्रु ने कहा—"मुझे भी ऐसा ही लगता है।"

वर्षकार बोला- "बुराइयों पर विजय प्राप्त करना आसान है किन्तु गुणों को जीता नहीं जा सकता। तलवार की चोट गुणों पर असर नहीं करती। गुण जल की तरह होता है जो एक बार—क्षण भर के लिए हट कर तुरन्त फिर जुड़ जाता है।"

अजातशत्रु का चेहरा चमक उठा। वह बोला—"तो पता लगाइये

कि वैशाली वालो मे ऐसी कौन-सी खूबी है जिस ने उन्हे अजेय बना रखा है ।"

वर्षकार कहने लगा—"यह तो स्वय सिद्ध है कि गणतन्त्र में बहुत अजेय गुण होते है, प्रमाण है हमारी बरावर की हार किन्तु हमारा शासन तो साम्राज्यवादी आधार पर है । हम गणतन्त्र के गुणों को समझ कर भी ग्रहण नही कर सकते । हमारी मानसिक बनावट ही दूसरी तरह की है । यह हमारा दोष है—साँचे का जिस मे हम ढल चुके हैं ।

अजातशत्रु ने सवाल किया—"यदि हम उन गुणों को धारण नही कर सकते जिन गुणों ने वैशाली वालो को अजेय बनाया है तो फिर हमें सफलता कैसे मिलेगी ।"

वर्षकार विश्वास पूर्वक बोला—"मिलेगी महाराज, राजनीति का पक्का खेलाडी अपनी ताकत तो बढाता ही है किन्तु अपने विरोधी के गुणो को भी नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहता है—यह आसान रास्ता है । यदि हम वैशाली वालों के गुणों को धारण करने लगें और गुण के द्वारा ही उन्हे जीतने का प्रयास करें तो कम से कम हमें हजार साल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी । राजनीति तपस्वियों की तपोभूमि नही है महाराज, यह तो भूखे भेडियों का गिरोह है ?"

अजातशत्रु ने सन्तोष की साँस ली । उसे कुछ प्रकाश नजर आने लगा । राजा को तृप्त देखकर वर्षकार अपनी सफलता पर प्रसन्न हुआ । अजातशत्रु बोला—'आप ने कुछ उपाय सोचा है क्या ?"

वर्षकार कहने लगा—"सोचा है । मै पहले तथागत की सेवा मे जाना चाहता हूँ । उनसे यह पूछूँगा कि वैशाली वाले किन गुणो के कारण अजेय हैं ।"

अजातशत्रु ने चौक कर पूछा—"कैसा साहस है । तथागत आपको सारा रहस्य वतला देंगे ?"

वर्षकार बोल उठा—"अवश्य । सत का हृदय निर्मल होता है महाराज !"

अजातशत्रु ने फिर सवाल किया—"तथागत क्या जाने गणतन्त्र की बात, वे तो तपस्वी और धर्मप्रचारक है।"

"यह गलत धारणा है महाराज"—वर्षकार बोला—"मुझे क्षमा कीजिये। तथागत् गणतन्त्रात्मक शासन पद्धति के सब से बड़े ज्ञाता हैं। उन्होंने अपने भिक्षु-संघ का संगठन ही इसी पद्धति से किया है। वे एक राजपुत्र भी है—यह आप शायद भूल गये। भिक्षु-सघ है तो शुद्ध धार्मिक-संस्था किन्तु उसका संगठन ठोस है।"

अजातशत्रु सोच-विचार में पड़ गया। वह बोला—"मेरे पिता तथागत् की शरण में चले गये थे। उनके साथ जैसा व्यवहार किया गया उसका बुरा असर तथागत् के मन पर पड़ सकता है।"

वर्षकार बोला—"तथागत् का हृदय आकाश की तरह विस्तृत है। वे मैत्री-धर्म के प्रचारक हैं। छोटी बातों का कोई स्थान उनके मन में नही है। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ महाराज।"

अजातशत्रु बोला—"महामात्य जी, पराजय और अपमान ने मेरी सारी इन्द्रियों का शोषण कर डाला है। मेरा मन कहीं नहीं टिकता। सारा नगर एक विशाल श्मसान-सा निरानन्दपूर्ण बना हुआ है। यदि मैं जनता को विजय का उपहार लाकर देता तो जो व्यापक नर-संहार हुआ है उसका असर मिट जाता।"

वर्षकार ने उत्तर दिया—"महाराज, शासक को प्रिय-अप्रिय, सुख-दु:ख, भूत-भविष्यत् इन द्वन्द्वो में सम रहकर शासन करना चाहिये। उद्विग्न चित्त का राजा और शान्त स्वभाव का बन्दर अपने जीवन को खतरे में डाल लेता है। आप शान्ति से विचार कीजिये। आज आप सर्वत्र हाहाकार देख रहे हैं। जनता विस्मृतिशील होती है। वह एक ही काम में बहुत दिनों तक लगी नही रहती, यह उसका स्वभाव है।"

अजातशत्रु ने पूछा—"तो मैं क्या करूँ?"

वर्षकार कहने लगा—"कल मैं किसी उत्सव की व्यवस्था करता हूँ। गायिकायें बुलाई जाएँ, गायक, नट, जादूगर सभी बुलाए जाएँ।

जनता उलझ जाएगी खेल तमाशे मे। जय-पराजय आपके लिये जितनी बड़ी बात है जनता के लिये वह उतनी बड़ी बात नही है।"

अजातशत्रु ने स्वीकृति दे दी तब वर्षकार कहने लगा—"मैं शीघ्र ही जेतवन जाऊँगा और तथागत से पूछूंगा कि वैशाली वाले क्यों इतने बलवान हैं।"

वैशाली शब्द कानो में पड़ते ही अजातशत्रु फिर उदास हो गया। इसी समय द्वारपाल ने आकर निवेदन किया कि देवदत्त दर्शनार्थ आये हैं।

अजातशत्रु वर्षकार का मुँह देखने लगा। वर्षकार ने अजातशत्रु का रुख देखकर कहा—"उन्हें आने दो।"

देवदत्त आया। वह जानबूझ कर ऐसा गम्भीर बन गया था कि देखने से डर मालूम होता था। कुशल 'नट' की तरह वह जब जैसा चाहे अपने चेहरे के भावों को बदल लेता था।

देवदत्त आते ही बोला—"महाराज, मैं असमय मे आप को कष्ट देने आ गया—क्षमा करेंगे।"

वर्षकार बोला—"कहिये क्या आदेश है।"

देवदत्त आसन जमा कर बैठ गया और बोला—"महाराज, अनाचार की वृद्धि हो रही है। मेरा हृदय रो रहा है। आप इस ओर ध्यान दें।"

वर्षकार चौंक कर बोला—"आप क्या कह रहे हैं?"

"ठीक ही तो कह रहा हूँ"—देवदत्त ने अपनी दाहिनी जाघ पर ताल मार कर दृढ़तापूर्वक कहा।

वर्षकार झुंझला उठा और अजातशत्रु के चेहरे की ओर एक बार छिपी दृष्टि से देखकर बोला—"उदाहरण दीजिये।"

"उदाहरण—" देवदत्त जरा-सा आगे झुक कर और इधर-उधर देखकर बोला जैसे उसकी बाते कोई दूसरा न सुन ले—"आप उदाहरण चाहते हैं तो राजमार्ग पर जो मेघवर्ण की पानशाला है उसमे किसी को भेजिये।"

वर्षकार क्रोध से तिलमिला उठा। अजातशत्रु का मन भी झुँझला गया। देवदत्त सोच कर कहने लगा—"राजगृह का बच्चा-बच्चा जानता है कि ....।"

वर्षकार अपने को रोक नहीं सका। तेज आवाज में बोला—'आप बतलाना नहीं चाहते तो इस समय जाइये। व्यर्थ परेशानी मत फैलाइये।"

और कोई होता तो देवदत्त बिगड़ बैठता किन्तु वह मन ही मन उस वृद्ध कूटनीतिज्ञ का लोहा मानता था। देवदत्त ने फिर कहा—"आप क्या बोल रहे हैं महामात्य जी ?"

वर्षकार ने आसन त्यागते हुए अजातशत्रु से बोला—"महाराज, मैं जाना चाहता हूँ।"

देवदत्त तब तक सँभल चुका था। वह शान्त स्वर में बोला—"महामात्य जी, गौतम की मूलगन्ध कुटी के पीछे निर्माल्य की ढर पर एक सुन्दरी स्त्री की लाश मिली है जिसे गला घोंट कर मार डाला गया है।"

वर्षकार चौंक कर बोला—"मार डाला ? किसने मारा ? वहाँ सुन्दरी स्त्री क्यों जायगी ?"

देवदत्त ने कहा—"महोदय, उस स्त्री की लाश निर्माल्य से ढकी थी। सवेरे लोगों को पता चला। कहा जाता है कि उसे गौतम के शिष्यों ने बात फूट जाने के भय से मार डाला।"

अजातशत्रु क्रोधभरी आँखों से वर्षकार की ओर देखने लगा। वर्षकार ने राजा के रुख को देख लिया पर शान्त बना रहा। वह बोला—'बात क्या फूटेगी ?"

देवदत्त दोनों हाथ नचाता हुआ बोला—"यह पाप की बात है, महापाप की बात ! शिष्यों ने अपने शास्ता को कलंक में पड़ने से बचाया होगा—ऐसा ही पता चलता है।"

वर्षकार ने अजातशत्रु को लक्ष्य करके कहा—"महाराज, सोचता

सीमा पार कर गई। मैं इस कांड की छानबीन करूंगा। मुझे ऐसा लगता है कि इस दुर्घटना की तह में कुछ है।"

देवदत्त गुर्रा कर बोला—"आप क्या कह रहे हैं! क्या यह षड्यन्त्र है?"

वर्षकार बोला—"षड्यन्त्र शब्द आपने मुझे याद करा दिया। यह दुर्भाग्य का परिहास है देवदत्त जी! मैं अभी कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ। हद हो गई—शिव! शिव!!"

सूई और फावड़ा

जब देवदत्त मन ही मन वर्षकार को गालियाँ देता हुआ विदा हो गया तो अजातशत्रु ने अपने महामात्य से पूछा जो पूरा जोर लगा कर माला फेर रहे थे। सोचने या चिंतन करने के भिन्न-भिन्न तरीके होते हैं। बुद्धदेव चंक्रमण करते हुए (टहलते हुए) चिंतन करते थे, कोई पीठ पर दोनों हाथ ले जाकर कमर के पार एक हाथ की उँगलियों को पकड़ लेते हैं और कुछ आगे झुक कर हौले-हौले टहलते हुए सोचा करते हैं, कोई कैसे और कोई कैसे, किन्तु वर्षकार वेग से माला फेरता हुआ सोचा करता था। जितनी तेजी से वह माला फेरता शुरू करता था उतनी ही तेजी से सोचता था।

अजातशत्रु ने प्रश्न किया—"तथागत् के सम्बन्ध में यह कैसी बुरी बात सुनने में आई?"

वर्षकार बोला—"मैं सोच रहा हूँ कि इस दुर्घटना से लाभ उठाया जा सकता है या नहीं।"

अजातशत्रु घबरा उठा। वह महामन्त्री के गम्भीर मुँह की ओर देखता हुआ बोला—"लाभ?"

"हाँ, लाभ"—वर्षकार ने अपने शब्दों पर जोर देकर कहा—"मेरे सामने वही वस्तु बुरी है जिसका मैं अपने हित में उपयोग नहीं कर

सकता। यदि मेरा पुत्र भी मर जाय तो मैं यही सोचूँगा कि इस हानि को लाभ में कैसे बदल दूँ। कोई भी शासन चल नही सकता यदि उसके सचालक प्रत्येक परिस्थिति से अपना मतलब निकालने का सफल प्रयास न करें।"

अजातशत्रु ने धीरे से पूछा—"तथागत् के इस कलंक से क्या लाभ उठाया जा सकता है ?"

वर्षकार बोला—"पहला लाभ यह होगा कि जनता का ध्यान इस नई चर्चा मे लग जायगा—अब उत्सव की तैयारी करने की आवश्यकता नही है। लोग हमारी हार को भूल जाएँगे। दूसरा लाभ यह होगा कि यदि सचमुच तथागत् का अपराध होगा तो वे भय से आपके अधीन हो जाएँगे और सदा आप का मुँह जोहेंगे। पापियो और अपराधियों को ही अभयदान देकर पक्के शासक अपना कट्टर समर्थक बनाते हैं। जिसका नैतिक-स्वर बहुत दृढ और ऊँचा होता है वह किसी की भी गुलामी स्वीकार नही करता और न उस पर किसी का रग ही चढ़ता है।"

अजातशत्रु ने कहा—"समझ गया।"

वर्षकार बोला—देवदत्त इस दुर्घटना से अपना हित करना चाहता है, मैं अपनी गोट लाल करना चाहता हूँ—विचित्र खींचतान है। सच्चा राजनीतिज्ञ वही होता है जो सूई से फावड़े का काम ले।"

अब हम मेघवर्ण की पानशाला की ओर चले जहाँ कई व्यक्ति बैठे बात कर रहे हैं और गुप्तचर का प्रधान भी उस गिरोह में बैठा कान लगाकर सुन रहा है। मेघवर्ण भी जी लगा कर इस परम रुचिकर वार्तालाप मे रस ले रहा है। एक व्यक्ति जो अपने को सर्वज्ञ मानता है कहता है—

"मैं सिर की बाजी लगा सकता हूँ -ये भिक्षु छिप-छिप कर सभी पाप करते हैं। मैं जेतवन जाता हूँ तो मेरा हृदय दुःख से कराह उठता है।"

दूसरे व्यक्ति ने कहा—"तू जेतवन क्यों जाता है? वहाँ कोई व्यापार तो होता ही नहीं और न मद्यशाला ही है?"

प्रथम व्यक्ति दांत पीस कर बोला—"देवघर्म, तू मुझे नहीं जानता। मेरे मामा के साले का चचा भिक्षु बन गया है, उसी से सारी बातों का पता चलता है।"

तीसरे व्यक्ति ने कहा—"गलत बात है। मैं जानता हूँ यह जो औरत मरी है वह वेश्या थी और वह कभी जेतवन नहीं जाती थी। यह लगी लगाई बात है।"

चौथा व्यक्ति बोलने के लिये मुँह खोलना ही चाहता था कि मेघवर्ण ने फुसफुसा कर कहा—यह बात सही है। वह वेश्या थी और बाहर से आई थी।"

"वह वेश्या नहीं थी"—पहला व्यक्ति भुँझला कर बोला—"मैं जानता हूँ वह गौतम की प्रेयसी थी।"

मेघवर्ण बोला—"प्रमाण?"

प्रथम व्यक्ति ने कहा—यही कि उसे भिक्षुओं ने तब मार डाला जब वह गर्भवती हो गई। पाप फूटने का भय जो था।

मेघवर्ण धरती पर हाथ पटक कर बोला—"और मार कर अचार बनाने के लिये रख छोड़ा तथागत की मूलगन्धकुटी के पिछवाड़े में निर्माल्य से ढाँक कर! तुम्हारा दिमाग क्या है भानमती का पिटारा है—शाबाश!"

इनके बीच में मद्य का एक मटका भी आ गया जिसे गुप्तचर के मुखिया ने मेघवर्ण को इशारा देकर मँगवाया था। अब सभी मद्यपान की ओर भी झुके। दो-चार घूँट तेज मदिरा पेट में पहुँचते ही खौलने लगी और अपने प्रभाव भी वह दिखलाने लगी। बात-चीत में गर्मी आ गई, लोग जोर-जोर से बोलने लगे।

मटका खाली होते न होते मद्यशाला में तूफान खड़ा हो गया। सारी बातें स्पष्ट हो गई। गुप्तचर के प्रधान ने अच्छी तरह जान लिया

कि यह सारा कांड कृत्रिम है। एक वेश्या को बुला कर देवदत्त ने बुद्धदेव को बदनाम करने के लिए षड्यन्त्र किया था। फिर वेश्या मार डाली गई और उसकी लाश मूलगन्ध कुटी के पिछवाड़े में डाल दी गई। अपराधियों का भी पता गुप्तचर के प्रधान को चल गया। एक भी बात छिपी न रह सकी—तीर्थंधर और उन चण्डालों का भी पता मालूम हो गया जिन्होंने इस घृणित षड्यन्त्र का संचालन किया था।

देखते-देखते मधुशाला में इतना शोर मचा कि राजपथ पर चलने वाले दौड़ते हुए अन्दर घुस गए। शराब के वेगवान् प्रभाव से वे चार-पाँच व्यक्ति जो पहले बैठ कर कानाफूसी कर रहे थे खड़े होकर दहाड़ रहे थे और अपनी-अपनी बात का समर्थन कसमें खा-खाकर कर रहे थे। न केवल गुप्तचर के प्रधान ने ही बल्कि जनता ने भी अपने कानों से सुन लिया कि बुद्धदेव को बदनाम करने के लिए एक जाल बिछाया गया था और जाल फैलाने वाला था देवदत्त। सर्वसाधारण में रोष छा गया। पराक्रम प्रकट करने का शुभ अवसर सामने आया जान कर कुछ उत्साह-प्रिय व्यक्ति देवदत्त की छावनी की ओर जाने के लिये भी उछल-कूद मचाने लगे और कुछ राजा के निकट जाकर देवदत्त को दंड दिलाने का वैधानिक उपाय सोचने लगे। वैधानिक उपाय सोचने वालों का दल छोटा था किन्तु देवदत्त पर चढ़ाई करने वालों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही थी। देवदत्त अपने शिविर में बैठा अर्थकार को कोस रहा था और कुर्मायन हाथ जोड़ कर सामने बैठा हाँ में हाँ मिला रहा था। इसी समय एक व्यक्ति ने आकर उसके मन में धीरे से कहा—"भागो, खतरा है।"

राजनीति में कभी सूई बन कर घुसना पड़ता है तो फावड़ा बन कर निकलना पड़ता है, कभी फावड़ा बन कर घुसना पड़ता है। तो सूई बन कर भागना पड़ता है ताकि किसी की दृष्टि न पड़ जाय। जो पलायन कला में दारंगत न हो और अवस्थानुसार तुरन्त व्यवस्था कर डालने की जिसमें चातुरी न हो, वह राजनीति में उसी तरह हाथ-पैर पटक कर

मर जाता है जैसे खाई में गिरा हुआ हाथी मरता है। देवदत्त चौंका तो जरूर किन्तु बाहर से गम्भीर बना रहा। वह आसन से उठा और कुर्मायिन से मीठे स्वर मे बोला—"मैं एक विशेष प्रयोजन से जाता हूँ। संघ की देख-भाल करते रहना।" उत्तर की प्रतीक्षा करना उसने व्यर्थ समझा और राजगृह की दुर्गम पहाड़ियों की राह पकड़ी।

उसने अपना शिविर जानबूझ कर ऐसी जगह पर लगवाया था। जहाँ से किसी समय भी अदृश्य हो जाना सम्भव हो। बराबर खतरे मे खेलने वाला व्यक्ति सदा चौकन्ना रहता है—वह अनायास ही किसी की पकड़ में नही आता। देखते-देखते देवदत्त वन में घुस कर पहाड़ियों के चक्रव्यूह मे चला गया। उसने पहले से ही कुअवसर आने पर शरण लेने के लिये स्थान को चुन रखा था। वह जानता था कि कभी भी उसकी गर्दन पर दुर्भाग्य की तलवार का वार हो सकता है।

कुर्मायिन बड़बड़ाया—"साले को बाघ या रीछ मार कर खा जाय तो सिर दर्द दूर हो। ऐसा पिशाच देखने मे नहीं आया।"

वह भिक्षुओं के झोपड़ों की ओर चला जो करीब एक कोस पर थे। वह आधा रास्ता तै कर चुका था कि हजारों की क्रुद्ध भीड़ को कोलाहल करते हुए आते देखा। वह घबरा कर भागा और एक वृक्ष पर चढ गया। भीड़ आगे बढ़ गई। कुर्मायिन वृक्ष से उतर कर जंगली रास्ते से भिक्षुओं के झोपड़ों की ओर भागा। दूर से ही उसने देखा सभी झोपड़े जल रहे हैं। आग की लपटें उठ रही हैं और उधर से आने वाली हवा में पुराने बाँस, लकड़ी और घास-फूस की महक भरी हुई थी—हवा भी गर्म थी। करीब दो-ढाई सौ झोंपड़े थे। आगे बढ़ने पर उसने भिक्षुओं का कोलाहल भी सुना। कुर्मायिन डर गया और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर ललाट का पसीना पोंछने लगा।

दिन का अन्त हो गया। रात आई। आकाश तारों से भर गया। वन में शान्ति छा गई—पंछियों का कलरव शान्त हो गया। शशिचन्द्र

पंछी उड़ने लगे और निःशब्दता के हृदय को फाड़ कर उनकी तीखी आवाज़ भी सुन पड़ने लगी।

देवदत्त कहाँ भागा कुर्मायन को पता न था। वह अकेला वृक्ष के नीचे हारे हुए जुआरी की तरह बैठ कर अतीत और भविष्य के कुलावे मिलाने का प्रयत्न करने लगा—वर्तमान तो उसके सामने ही था, भयानक वर्तमान !!!

क्रुद्ध भीड़ देवदत्त के शिविर के निकट पहुँची। उसे भी उसने अग्निदेव को सौंप दिया, निकट ही धर्म-सेनापति कुर्मायन का शिविर था। उसमें से शराब के कई पात्र निकले और बहुत-सा धन भी मिला। भीड़ ने धन और मदिरा के मटकों का स्पर्श नहीं किया और शिविर को फूँक दिया। देवदत्त का कहीं पता न था। भीड़ का क्रोध शान्त नहीं हुआ, वह कोलाहल करती हुई लौटी। भीड़ का नेतृत्व मेघवर्ण कर रहा था। वह चिल्ला रहा था—"महात्मा बुद्ध को कलंकित करने वाले को धरती पर रहने का अधिकार नहीं है। देवदत्त ने ही हमारे बुद्ध प्रिय सम्राट का खून कराया, उसी के उत्पीड़न से महारानी क्षेमा भिक्षुणी बन कर अपने ही राज्य में भीख माँग-माँग कर पेट पालती हैं।"

ऐसा लगता था कि देवदत्त के जन्मजन्मान्तर के पाप और कुकर्म एक ही बार प्रकट हो गये।

यदि हम किसी महत्वपूर्ण वस्तु का निर्माण करने लगें तो वह वस्तु तभी तक हम से छोटी रहती है या रहेगी जब तक उसे पूर्णता नहीं प्राप्त होगी। पूर्णता प्राप्त होते ही उसे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हो जाता है और उसमें स्थिति भी पैदा हो जाती है। फिर यदि हम उसे नष्ट करना चाहें तो शायद ही सफलता प्राप्त हो। यह बहुत संभव है कि पूर्णता प्राप्त हो जाने के बाद वह वस्तु अपने निर्माता से अधिक बलवान भी हो जाय। एक उदाहरण लीजिये—एक कलाकार पत्थर का एक ढोंका उठाता है, वह देव-प्रतिमा गढ़ने लगता है। जब तक वह प्रतिमा पूर्णता तक नहीं पहुँचती पत्थर मात्र है, पूर्णता प्राप्त होते ही

उसमें देवत्व का प्रवेश हो जाएगा और अपने निर्माता से वह ऊपर उठ जाएगी। फिर यदि निर्माता उसे नष्ट भी करना चाहे तो ऐसा नहीं कर सकता—अब वह पत्थर का एक ढोका नहीं देवप्रतिमा को तोड़ेगा!

यही बात बुराइयों के लिए भी है। कोई व्यक्ति अपने भीतर बुराइयों को प्रतिष्ठित करता है। जब बुराइयां उसके भीतर पूर्णता को प्राप्त हो जाती हैं तब उनका अपना महत्व और अस्तित्व हो जाता है। यदि बुराइयों को ग्रहण करने वाला व्यक्ति यह चाहे भी कि उनका पिंड कुकर्मों से छूट जाय तो ऐसा होना असम्भव है। वे बुराइयां बलवान बन जाने के बाद उस अभागे को चबा कर ही दम लेती हैं जिसने उन्हें आश्रय दिया था। यह विचित्र मनोमय व्यापार है जिसका शिकार देवदत्त भी हो गया था।

देवदत्त ने पाप को गढ़ने की ओर ध्यान दिया और वह लगातार गढ़ता ही चला गया। जब तक वह मूर्ति निर्माणावस्था में थी प्राणहीन थी, प्रभावहीन थी, अस्तित्व में नहीं थी। जब वह पूर्ण हो गई तो देवदत्त को खाने के लिये दौड़ी। वह भागा और राजगृह की पहाड़ियों में कहीं जाकर छिप गया।

सही बात यह है कि हमारे शुभाशुभ कर्मों का फल तो हमारे लिये अनिवार्य है—न तो हम बुरे कर्मों के परिणाम को शुभ बना सकते हैं और शुभ कर्मों के फल को कटु! शरीर को कितना भी मोड़ें दाहिना अंग दाहिना ही रहेगा, बाया-बाया ही कहा जायगा। दाहिने अंग को बाया या बायें को दाहिना अंग हम किसी उपाय से भी नहीं बना सकते। जो भी हो देवदत्त भाग कर खोह-खोचनों में छिप गया—उसे संतोष हो गया कि उसने अपने को छिपा लिया किन्तु मानव के द्वारा किया हुआ शुभ या अशुभ प्रयास उसके भौतिक शरीर से बहुत बड़ा होता है। साढ़े तीन हाथ का मानव भले ही किसी खड्डे में अपने को छिपा ले किन्तु हजारों, लाखों, करोड़ों हाथ लम्बा-चौड़ा उसका यश या अयश दूर-दूर से नजर आता है, सैकड़ों हजारों कोस से लोग उसके रूप

१ हैं—इस सत्य को देवदत्त जान कर भी नही जानना चाहता . उसका मस्तिष्क बराबर अपनी 'धुरी' बदल दिया करता था—गिरे हुए व्यक्तियो मे यह दोष प्राय. पाया जाता है, उनमे वृत्ति होती है 'स्थिति' नही।

देवदत्त दुर्गम कन्दरा मे छिप कर जरा भी नही पछताया, न उसने अपने कर्मों के लिए मन मे दुख माना और न उसे लज्जा ने ही स्पर्श किया। वह एकान्त मे डरे हुए गीदड की तरह बैठ कर फिर कुकर्म करने की योजना बनाने लगा, जैसे जन्मजात चोर पकडा जाकर जब बन्दीगृह मे पहुँचा दिया जाता है, तो छुटकारे के बाद फिर किसके घर मे सेंध काटेगा इसकी योजना बनाता रहता है।

कुर्मायन का बुरा हाल था। वह चमगादड की तरह उलटा लटक रहा था—न वह धरती पर था और न डाल पर ही बैठा था। उसकी दशा पागलो की सी थी। वह कभी रोता था, कभी क्रोध से उबलता था।

मेघवर्ण ने क्रुद्ध जनता का नेतृत्व ग्रहण करके अपने आप को बचा दिया—यदि वह ठीक अवसर पर जन-प्रवाह का साथ नहीं देता तो देवदत्त के साथ वह भी घोर घृणा का शिकार बन जाता क्योंकि उसकी पानशाला मे चंचरी, उसका चाचा आदि आते थे, मद्यपान करते थे, जाते थे और भोर को लौट कर यह प्रचार करते थे—"चचरी रात भर तथागत् की मूलगन्ध कुटी मे रहती है।"

इसी नीचतापूर्ण प्रचार का केन्द्र मेघवर्ण की पानशाला थी।

भगवान् बुद्ध पर इस तरह का कलक लगाया गया था। यह लेखक की कल्पना नहीं है। उस वेश्या का वध भी कर दिया गया था और मूलगन्ध कुटी के पीछे उसकी लाश डाल दी गई थी। विशेष जानकारी के लिए देखिये—मणिमुकुर नामक ग्रंथ २८५। —लेखक

अमृत से विष

ऐसे भी लोग हैं जो अमृत का उपयोग विष की जगह पर करते हैं और आश्चर्य यह है कि उपयोग-भेद से अमृत विष की तरह संहारक बन भी जाता है। यह गुण राजनीति में है। यह कैसे होता है, यही हम बतलाने जा रहे हैं।

भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों से घिरे बैठे थे। कुछ गर्मी पड़ने लग गई थी। वसन्त पूरे उरूज पर था—नई नई कोपलें निकल रही थीं। गृद्धकूट पर्वत ने सुन्दर रूप धारण कर लिया था—चैत्र आधा बीत गया था। गृद्धकूट त्यागियों और तपस्वियों का तप-स्थल था। वहाँ मद्य ही मद्य था, पद्य का प्रवेश वर्जित था, फिर वसन्त अनाहूत, बेशर्म अतिथि की तरह पर्वत के आँगन में उतर कर अपनी, पीत-विभा फैला रहा था। वहाँ के रहने वालों के लिए वसन्त की मादकता का अनुभव करना एक गुरुतर अपराध था; वसन्त की मदमाती बयार का स्वागत् करना पूर्णतः वर्जित था; कोयल और पपीहे की कराह सुन कर उदास हो जाना दोष था; मेंहदी और गुलाब के फूलों की महक जी लगा कर ग्रहण करना भारी विकार था, फिर भी वहाँ वसन्त अपनी पूर्ण महिमा के साथ आया और वन की शोभा में उसने पागलपन भर दिया।

भिक्षुओं में युवक, प्रौढ़ और वृद्ध सभी वय और अवस्था के लोग थे। सबके हृदय की बनावट वय के अनुसार अलग-अलग प्रकार की थी किन्तु वसन्त का बहिष्कार करने में सब एकमत थे—बाहर से एकमत। जैसे खंडहर पर भी चाँदनी बरस पड़ती उसी तरह गृद्धकूट पर भी बसन्त की मादकता फैल ही गई—कोई स्वागत करे या धक्के मार कर बाहर निकाल दे।

एक विशाल निग्रोध-वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध बैठे थे, साक्षात् मैत्री-धर्म की तरह वे सुशोभित थे। वहाँ का वातावरण स्नेह और अपनेपन से प्रकाशमान था। आनन्द पंखा लेकर खड़े थे तथा दूसरे त्यागी-तपस्वी और प्रज्ञावान् स्थविर बैठे भगवान् के उपदेश सुन रहे थे कि एक भिक्षु ने आकर सूचना दी—"भगवान् की सेवा में मगध के महामात्य वर्षकार आये हैं।"

बुद्धदेव ने मौन रह कर वर्षकार के आने का आदेश दिया। जहाँ तक रथ जा सकता था वहीं तक रथ से आकर, फिर पैदल पहाड़ पर चढ़ता हुआ वर्षकार भगवान् धर्मधर्मेश्वर तथागत् की सेवा में उपस्थित हुआ। वह नम्रता की प्रतिमूर्ति बना हुआ था। जहाँ से भगवान् नजर आये वहीं पर धरती पर लेट कर उसने प्रणाम किया। धरती गर्म थी, धूल भी गर्म थी और शिलायें भी गर्म थीं। वर्षकार ने अपनी छाती और पेट के जलने का तनिक भी विचार नहीं किया—वह साष्टांग प्रणाम करने के लिये लेट गया। वह मन ही मन कुढ़ा किन्तु उठ कर दोनों हाथ जोड़े भगवान् के सामने आया और फिर दण्डवत् प्रणाम करके एक ओर हाथ जोड़े बैठ गया।

महामात्य वर्षकार की श्रद्धा-भक्ति देख कर जो सरल हृदय भिक्षु बैठे थे वे गद्गद् हो गये। वे नहीं जानते थे कि एक परम कूटनीतिज्ञ अपना काम निकालने के लिये क्या नहीं कर सकता। घड़ियाल की आँखों में आँसू देख कर यदि उसे कोई सहृदय मान ले या श्मशान में बैठ कर फूकने वाले गीदड़ों का फूकना सुन कर कोई यह विश्वास कर

ले कि मुर्दे को या चिताओं को देख कर गीदड़ों का हृदय करुणा से विचलित हो गया है तो हम उस पुरुष को स्वर्ग का देवता ही जानेंगे जो धरती की बारीकियों से बहुत परे है। वर्षकार की नम्रता और श्रद्धा सीमा पार कर गई थी। जो भिक्षु वहाँ बैठे थे मन ही मन इस लिये लज्जित हुए कि वे अपने शास्ता के प्रति इतने नम्र नहीं हैं जितना अन्य धर्मावलम्बी ब्राह्मण वर्षकार नम्र है[1]।

परिपाटी के अनुसार वर्षकार ने भगवान से कुशल-प्रश्न पूछा और फिर वह तुरन्त अपने विषय पर आकर टिक गया। वर्षकार ने सीधे प्रश्न किया—"शास्ता की सेवा में मैं मगधेश्वर की ओर से आया हूँ। इस स्वर्ण सुयोग के लिए मैं तो लालायित था ही—मैं बहुत दिनों से चाहता था कि शास्ता के दर्शन करूं।"

आनन्द ने कहा—"महामात्य जी, अपना हेतु कहिये। मगधेश्वर ने किस उद्देश्य से धर्मेश्वर की सेवा में आपको भेजा है?"

वर्षकार कहने लगा—"भगवन्, क्या कारण है कि वज्जी (वैशाली गणतन्त्र वाले) इतने प्रबल हैं कि मगधेश्वर लाख प्रयास करके भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। वह कौन-सी शक्ति है जिसने उन्हें अजेय बना रक्खा है?"

सरल हृदय बुद्धदेव ने आनन्द से कहा—"आनन्द, क्या तूने सुना है कि वज्जी बराबर बैठक करते हैं—एक-दूसरे से मिल-जुल कर ही कुछ काम करते हैं?"

आनन्द बोला—"हाँ, भन्ते, मैंने ऐसा सुना है।"

भगवान् ने फिर कहा—"आनन्द, क्या तू जानता है कि वे एक ही बैठक करते हैं, एक साथ ही उठते हैं और एक ही निश्चय करते हैं और अपने निश्चय का पालन एकमत से करते हैं। आनन्द, जब तक वज्जी ऐसा करते रहेंगे वे अजेय रहेंगे—उनकी बराबर वृद्धि होती रहेगी।"

---

१. वर्षकार के बुद्धदेव की सेवा में आने का पूरा वर्णन प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ—महापरिनिब्बान-सुत्त" में आया है। —लेखक

भगवान् की ये बातें सुन कर वर्षकार को ऐसा लगा कि उसके सामने प्रकाश फैल गया—उसे किसी अशेष खजाने की गुप्त चाबी मिल गई।"

आनन्द बोला—"हाँ, शास्ता, मैंने ऐसा सुना है।"

भगवान् फिर बोले—"आनन्द, क्या तू जानता है कि वज्जी किसी भी अप्रज्ञप्त (गैर कानूनी) काम को उचित करार देने का दुराग्रह या कुचेष्टा नही करते और न प्रज्ञप्त काम को अप्रज्ञप्त सिद्ध करने का दुस्साहस ही करते हैं। वे अपने प्राचीन वज्जी-धर्म का (कानून का) पालन पूर्ण निष्ठा से करते हैं ?"

आनन्द ने कहा—"हाँ, शास्ता ऐसा मैंने सुना है।"

भगवान् ने दृढ स्वर मे कहा—"जब तक वज्जियों में यह न्याय-बुद्धि रहेगी वे आगे बढते जाएँगे, अजेय बने रहेगे।"

कुछ क्षण रुक कर भगवान् फिर मधुर स्वर मे बोले—"आनन्द, क्या तू जानता है कि वज्जी अपने गुरुजनों का आदर करते हैं उनकी बातें श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, उनकी पूजा करते हैं ? आनन्द, जब तक वे ऐसा करते रहेगे उन्हें कोई भी अपदस्थ नही कर सकता।"

आनन्द ने कहा—"हाँ, शास्ता मैंने ऐसा सुना है।"

भगवान् सहसा गम्भीर होकर कहने लगे—"आनन्द क्या तू जानता है कि वज्जी कुल-स्त्रियों या कुल-कुमारियो का हरण नही करते, बलात् उन्हे घर में लाकर नही बैठाते ? वे इस गुण को जब तक अपनाए रहेगे उनका विकास होता रहेगा।"

आनन्द ने कहा—"हाँ, शास्ता, मैंने ऐसा सुना है।"

बुद्धदेव फिर कहने लगे—'आनन्द, क्या तू जानता है कि वज्जी पूज्यों की रक्षा करते है, उनका स्वागत करते हैं और बाहर से जो पूजनीय अर्हत उनके राज्य मे पहुँच जाते हैं उनके सुख की पूरी व्यवस्था करते है, उनका आदर-सत्कार करते हैं, उन्हे उचित सुविधाएं प्रदान करते हैं ?"

आनन्द ने कहा—"हां, भन्ते, यह मैंने सुना है, मैं जानता हूं।"

इतना बोल कर भगवान् ने वर्षकार को लक्ष्य करके कहा—"ब्राह्मण, एक समय मैं वैशाली के सानन्दर चैत्य में विहार करता था। वहां मैंने वज्जियों को सात "अपरिहाणी-धर्म" (अपतन के नियम) बतलाए थे। जब तक वे मेरे बतलाए सातों अपरिहाणीय-धर्म का पालन निष्ठापूर्वक करेंगे तब तक उनका अहित हो ही नहीं सकता—वे अजेय रहेंगे और अपना विकास करते जाएंगे।"

हाथ जोड़ कर वर्षकार ने कहा—"भगवान्, एक अपरिहाणीय-धर्म वज्जियों की वृद्धि करने की शक्ति रखता है सात-सात अपरिहाणीय-धर्मों की तो बात ही क्या!"

इतना बोल कर वर्षकार ने फिर साष्टांग प्रणाम किया और कहा—"भगवन्, हम बहुधन्धी हैं। इच्छा न रहते हुए भी यहां से विदा होना पड़ता है। हम कर्म कोलाहल में फसे हुए प्राणी कहीं भी स्थिर नहीं रह सकते, यह हमारा दुर्भाग्य है।"

इतना बोल कर वर्षकार चुप चला गया। आते समय उसमें जितनी नम्रता थी लौटते समय उतनी नम्रता का प्रदर्शन उसने नहीं किया—यह स्वाभाविक था। मतलब साधने वाला व्यक्ति काम निकल जाने के बाद लापरवाह हो जाता है। वैद्य का तभी तक आदर होता है जब तक रोग के भयानक जबड़े में प्राणी फसा होता है—उद्धार हो जाते ही वह अपने उद्धारक के प्रति उदासीनता का रुख पकड़ लेता है। यही बात वर्षकार के लिये भी कही जा सकती है। उसने वैशाली गणतन्त्र के संहार का मार्ग देख लिया—अब बुद्धदेव की ओर से उसका ध्यान उचट गया। वर्षकार इस फिक्र में लग गया कि किस उपाय से वज्जियों के सद्गुणों का नाश करके उन्हें कमजोर बनाया जाय और फिर उनके ही रक्त से उनकी धरती को इस छोर से उस छोर तक धो डाला जाय। वह उन गुणों को ग्रहण करने के लिये नहीं आया था जिन गुणों के कारण वज्जी अजेय बने हुए थे—बल्कि उन गुणों को जान कर अपना रास्ता बदलने

के लिये आया था।

वर्षकार के जाने के बाद बुद्धदेव हठात् उदास हो गये। उन्होंने आनन्द से कहा—"आनन्द, मैं अब यहाँ रहना नही चाहता। भिक्षुओं को बुलाओ।"

वर्षकार रथ दौड़ाता हुआ राजगृह पहुँचा और सीधे अजातशत्रु के निकट चला गया। वह जैसे अपने महामात्य की प्रतीक्षा कर रहा था। वर्षकार ने उल्लसित कंठ से कहा—"मगधेश्वर की जय हो। मैं सफल होकर लौटा। बुद्धदेव ने खुले दिल से सारा रहस्य बतला दिया।"

इसके बाद उसने अजातशत्रु को सारी बातें खोल कर बतलायीं तो अजातशत्रु ने उत्सुक होकर पूछा—"तो अब क्या करना चाहिये?"

वर्षकार कहने लगा—"महाराज, आप के हित के लिये मैं प्राणो की बाजी लगा दूँगा। मेरा विचार यह है कि मैं स्वयं वैशाली जाऊँ और यह कहूँ कि मुझे मगधेश्वर ने निकाल दिया और अपमानित किया। इसके बाद मैं वहाँ रह जाऊँगा और वज्जियों में फूट डाल कर उनकी सभी अच्छाइयों का नाश कर डालूँगा।"

चौक कर अजातशत्रु वर्षकार का मुँह देखने लगा। कुछ क्षण इसी अवस्था में रह कर वह बोला—"महामात्य जी, आप क्या कर रहे है? क्या यह संभव है?"

वर्षकार ने कहा—"महाराज, राजनीति मे असंभव कुछ भी नही है। यह सत महात्माओ की टोली नही है जो धर्म-धर्म चिल्लाया करते है और एक दिन किसी वृक्ष के नीचे या झोपड़ी में चुपचाप मर-खप जाते हैं। बिना खतरा उठाये शासक अपने को कायम नहीं रख सकता। मुझे खतरे से खेलने दीजिये।"

अजातशत्रु बोला—'बुद्धदेव क्या कहेंगे?"

वर्षकार मुस्करा कर बोला—"उन्हे राजनीति के बीच मे बोलने का अधिकार नही है। वे धर्म-प्रचारक है, धर्मचक्र चलावें और हम है शासक, हम तलवार चला कर ही जी सकते है। हमारे और उनके बीच

में बहुत थोड़ी खाई है—यह दोनों मिल नहीं सकते। खटाई और दूध एक साथ नहीं रह सकते, इसी तरह धर्म और राजनीति का भी मेल नहीं बैठता। धर्म आकाश की ओर देखता है और राजनीति केवल अपनी ओर देखा करती है—आप बुद्धदेव के मतामत की चिन्ता न करें। आप मुझे कल सभा में बैठ कर पदच्युत कर दें और मुझे राज्य के बाहर निकाल दें।"

अजातशत्रु बोला—"यह तो बड़ा साहस का काम है महामात्य जी। खैर, मैं ऐसा ही करूँगा।"

वर्षकार बोला—"महाराज, बिना दुस्साहस किये राजनीति से लाभ उठाया ही नहीं जा सकता। अवसर आने पर सब कुछ कर डालने के लिये जो तैयार रहता है वही सफलता को अपनी दासी बना कर सुख भोगता है। नीति-अनीति, धर्म-अधर्म का प्रपंच कर्महीनों के लिये है—जिन्हें कुछ भी करना नहीं है वे व्यर्थ का वितंडावाद लेकर दिमाग खपाते हैं। आप शासक हैं, यह सदा स्मरण रखिये। आप कल इस नाटक को इतनी सफाई से सम्पन्न कीजिये कि किसी के मन में भी संदेह न हो।"

अजातशत्रु ने सहमति जताई तो वर्षकार फिर बोला—"मैं वहाँ से लगातार गुप्त संवाद गुप्त लिपि में लिख कर भेजता रहूँगा। आप सावधान रहियेगा और अपनी महारानी पर भी विश्वास मत कीजियेगा। भगवान् आपकी रक्षा करें—मैं अब विदा होता हूँ—शुभमस्तु!"

जोंक के रूप में सांप

सांप यदि अपने रूप में सामने आ जाय तो उस काल से बचने के लिये प्रयास भी किया जा सकता है, किन्तु वह जोक का रूप धारण करके आए तो शायद ही कोई उछल कर भागने का प्रयास करे और वह जोक रूपधारी सांप से डंसा जाकर यमलोक का यात्री बन जाय।

राजनीति में जो सफलता चाहते हैं वे जोक का ही रूप धारण करके किसी को चुपचाप चुटुक लेते हैं। वर्षकार ने भी यही किया। दूसरे दिन अजातशत्रु ने एकाएक घोषणा कर दी कि महामात्य पद से हटाये जाते हैं।

कारण कुछ भी बताया नहीं गया। वर्षकार उस दिन सिर झुकाये राजसभा से पैदल ही अपने घर की ओर चला। राजपथ से उसे इस तरह जाते हुए देख कर दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। किसी में साहस न था कि महामात्य से यह पूछे कि उसकी ऐसी दशा क्यों हुई। वृद्ध वर्षकार रोनी शकल बनाये, शोक में डूबा चुपचाप एक किनारे-किनारे चल रहा था। लोग चौंक-चौंक कर उसकी ओर देखते थे और घबरा कर एक दूसरे से इशारा करके पूछते थे कि यह क्या हुआ।

वर्षकार बिना किसी ओर दृष्टिपात किये अपराधी की तरह आगे बढता चला गया और अपने विशाल महल में पहुँचा। उसके महल में

भी शोक और बेचैनी छा गई—परिवार वाले घबरा उठे। वर्षकार चुपचाप अपनी कोठरी में घुसा और भीतर से किवाड़ बन्द करके बैठ गया।

बन्द किवाड़ को उसकी वृद्धा पत्नी बार-बार देखने आई पर साहस नहीं हुआ कि कुंडी खटखटावे। घर का वातावरण भयानक बन गया।

उस रात को वर्षकार का महल बिल्कुल ही अन्धकारपूर्ण रहा। दास-दासियों की दशा भी दयनीय थी। रसोईघर में चूल्हा रो रहा था और रंधन करने वाले सिर पर हाथ रखे बैठे थे। जो भी उसके महल से बाहर निकलता था रोनी शकल बनाये। किसी के प्रश्न करने पर कोई उत्तर महल के भीतर आने-जाने वालों से नहीं मिलता था। सारी राजधानी चिन्ता और आश्चर्य में डूब गई थी। जगह-जगह यही चर्चा थी। सभी प्रश्न करते थे, उत्तर देने वाला कोई न था। एक विराट् प्रश्न का चिह्न प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर झलकता था।

इसी तरह एक-एक दिन करके एक सप्ताह बीत गया, फिर पखवारा भी समाप्त हो गया। वर्षकार जो अपने महल में घुसा बाहर नहीं निकला। वह अपने आराध्यदेव शंकर के सामने हाथ-जोड़ कर बैठ रहा और बिलख-बिलख कर रोता रहा।

उसकी स्त्री तक को पता नहीं चला कि बात क्या हुई—केवल लोगों ने इतना ही जाना कि राजा ने अपने महामात्य को पदच्युत कर दिया। कारण क्या था—यह किसी को भी पता न चला। वर्षकार के पुत्रों और अन्तरंग मित्रों तथा साथी मंत्रियों तक को यह पता न चल सका कि ऐसा क्यों हो गया। वर्षकार का पितामह और पिता भी मगध साम्राज्य के महामात्यपद पर जीवन भर रह चुके थे। वह तीन पुश्तों का महामात्य था। स्वयं वर्षकार ने ४०-४५ साल तक राज्य की श्रीवृद्धि में योग दिया था, फिर एकाएक राजा ने क्यों ऐसे अनुभवी महामंत्री को खदेड़ दिया? लोगों में आश्चर्य और चिन्ता का होना स्वाभाविक ही था।

बड़ी खूबी से वर्षकार ने वातावरण को गम्भीर और बे-बूझ पहेली-सा बना डाला !

वर्षकार के इस पतन का समाचार वैशाली पहुँचा तो अध्यक्ष नीतिरक्षित ने प्रधानमन्त्री धर्मेश्वर से कहा—"यह कैसा समाचार है ?"

धर्मेश्वर तत्काल कोई उत्तर नहीं दे सका। कई दिनों के बाद उसने अध्यक्ष से कहा—"वह ब्राह्मण असाधारण कूटनीतिज्ञ और मायावी है। इस तरह का हठात् परिवर्तन राजनीति में कोई बहुत बड़ा महत्व तो नहीं रखता किन्तु इसे महत्वहीन भी नहीं समझना चाहिये।"

नीतिरक्षित ने सोच कर फिर प्रश्न किया—"आखिर यह तो मगध-राज्य की बात है, इसके भीतर की बारीकियों को हम ठीक-ठीक समझ तो नहीं सकते। गुप्तचर किसी भी घटना का अपनी ही बुद्धि की कसौटी पर जाँच कर सकते हैं और उन बेचारों की कसौटी ही कितनी चोखी होती है।"

धर्मेश्वर ने कहा—"प्रतीक्षा कीजिये और ध्यान से गतिविधि को देखते रहिये। कभी-कभी ऐसा धोखा होता है कि हठात् हवा का रुख बदल जाता है। परिणाम का रूप दूसरा होता है और कार्य से उसका सम्बन्ध जोड़ना कठिन हो जाता है। समझ में नहीं आता कि जो परिणाम प्रकट हुआ है वह किस कार्य का फल है। कार्य के अस्तित्व में आते ही कारण गुप्त हो जाता है और परिणाम जब प्रकट हो जाता है तो कार्य का रूप अदृश्य हो जाता है—केवल परिणाम ही हमारे सामने रह जाता है।"

नीतिरक्षित ने मुस्करा कर कहा—"देखिये, क्या होता है।"

एक दिन एकाएक वैशाली में यह समाचार फैला कि मगध का पदच्युत महामात्य वैशाली की शरण में—प्राणों की भीख माँगने भाग कर आया है। वह अजातशत्रु के क्रोध से त्रस्त होकर रातोंरात मगध से भाग निकला और उसका परिवार सैनिकों के घेरे में है। परिवार के सभी व्यक्ति अपने ही घर में वन्दी बना लिये गये हैं।

पता लगाने पर गुप्तचरों ने भी इस अफवाह को सत्य बतलाया। वर्षकार कब आया, कैसे आया, वह कहाँ छिपा हुआ है यह किसी को पता न चला। एक रात को जब आचार्य धर्मेश्वर अपनी कुटिया में बैठा उपासना कर रहा था कि एकाएक वर्षकार ने प्रवेश किया। वह आधा विक्षिप्त की तरह था—सिर के बाल, मूँछ-दाढ़ी के बाल सभी बढ़े हुए थे। वह बुद्ध ब्राह्मण काँप रहा था। अन्दर आते ही वर्षकार ने साष्टाँग प्रणाम किया और कहा—"आचार्य की शरण में वर्षकार आया है—मैं अपने प्राणों की रक्षा की भीख चाहता हूँ।"

वर्षकार एक मैली धोती पहने और उघारे बदन था। उसका दुर्बल, मृतता के कारण जर्जर शरीर देखने वाले को द्रवित कर देता था। उसकी आँखों में आँसू थे तथा उसका शरीर पसीने-पसीने था।

अकचका कर धर्मेश्वर आसन से उठा और दोनों हाथों से वर्षकार को उठाते हुए कहा—"हैं, हैं, आप यह क्या कर रहे हैं। इतने अधीर न हों, यहाँ आपको भय नहीं करना चाहिये।"

वर्षकार हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और रोदन-मिश्रित स्वर में कहने लगा—'आचार्य, अजातशत्रु ने मेरा मस्तक काट लेने की आज्ञा दी है। मेरा सारा परिवार खतरे में है। सैनिकों ने घर घेर लिया है। मैं किसी तरह निकल भागा और यहाँ तक पहुँच सका। कई दिनों से अन्न, विश्राम, निद्रा से रहित छिपता फिरता हूँ।"

धर्मेश्वर का हृदय भर आया। उसने स्नेहपूर्वक वर्षकार को अपने आसन पर बिठाया और एक लोटा जल सामने रख कर कहा—"पहले आप हाथ धोकर कुछ ब्रह्मार्पण कीजिये फिर बातें होंगी।"

वर्षकार ने हाथ-मुँह धोकर आज्ञाकारी सेवक की तरह पूछा—"अब क्या आज्ञा होती है ?"

आचार्य ने वर्षकार के हाथ से लोटा लेकर कहा—"अब दो कौर खा लीजिये।"

वर्षकार ने कोई उत्तर नहीं दिया। धर्मेश्वर की कुटिया में कोई

सेवक या नौकर तो था नहीं। वह पूर्ण त्यागी और सच्चे ब्राह्मण का जीवन व्यतीत करता था। उसने कुछ फल और दूध वर्षकार के सामने रखा। ठीक भूखे की तरह वर्षकार ने खाया, मानो वह कई दिनों से बिना अन्न के हो।

भोजन कर लेने के बाद धर्मेश्वर ने अपने ही हाथों से कुटिया में एक ओर आसन बिछा दिया। वर्षकार चुपचाप सो गया—उसे तत्काल नींद आ गई। इस तरह जोंक की शक्ल में, घर में प्रवेश करने वाले महाविषधर नाग को धर्मप्राण आचार्य धर्मेश्वर ने दूध पिला कर पालने का श्रीगणेश किया।

दूसरे दिन वर्षकार ने अत्यन्त विनयपूर्वक धर्मेश्वर से कहा—"आचार्य, आपने मेरी रक्षा की है। मैं उस क्रूर अजातशत्रु की तलवार से बच गया। मेरा कर्तव्य है कि मैं आपकी सेवा करूँ—साक्षी भगवान् है।"

इतना बोल कर वर्षकार ने शपथ खाने के लिये अपने यज्ञोपवीत का स्पर्श किया तो धर्मेश्वर के रोंगटे खड़े हो गये, यद्यपि राजनीति का वह धुरन्धर खेलाड़ी था फिर भी उसकी मानवता सुरक्षित थी। बड़े यत्न से आचार्य ने अपने को राजनीति के हवन कुंड में झोंक कर भी अपनी आत्मा को झुलसने से बचा रखा था—वह जल में रहने वाले कमल की तरह जल में भी था और उससे अलग भी। वर्षकार की माया काम कर गई।

आचार्य ने घबरा कर कहा—"आप शपथ मत खाइये। मुझसे जहाँ तक बन पड़ेगा आपकी रक्षा ही नहीं करूँगा आपके सम्मान का भी ध्यान रखूँगा जिससे आप वंचित कर दिये गये हैं। आप वृद्ध और विद्वान् ब्राह्मण हैं, आपको कातर देखकर मेरा हृदय विहर उठता है।"

यही तो वर्षकार चाहता था। वह दोनो बाहें फैला कर धर्मेश्वर से लिपट गया और स्नेह भरे स्वर में बोला—"आचार्य, आप दया के सागर हैं। अब मैं कितने दिन और बचूँगा। बस, आप इतना कीजिये कि शान्ति से मर सकूँ।"

वर्षकार धर्मेश्वर से उम्र में काफी बड़ा था। अपनी वृद्धता से भी लाभ उठाने का उस मायावी ने प्रयास किया और उसे सफलता भी मिली। वर्षकार सुखपूर्वक धर्मेश्वर की कुटी में रहने लगा जैसे गाय की खाल ओढ़ कर गोशाले में बाघ ने आश्रय पा लिया हो।

आचार्य को वर्षकार ने रो-रो कर यह विश्वास दिला दिया कि वह एक सरल हृदय या ईमानदार व्यक्ति है तथा क्रूर अजातशत्रु ने उसे अपने अत्याचारों का शिकार बनना चाहा। वर्षकार ने बताया कि राजा से उसका मतभेद उसी दिन शुरू हो गया जिस दिन देवदत्त की कुमन्त्रणा में पड़ कर अजातशत्रु ने अपने वृद्ध, दयालु तथा निरपराध पिता को यातना देने का निश्चय किया। बिम्बसार की हत्या कर दी गई और एक सप्ताह तक उसकी लाश को सड़ने के लिए अन्धेरी तथा भयानक कोठरी में ही रहने दिया गया। वर्षकार ने कराह कर कहा—"मैं इस घोर पाप का तटस्थ-द्रष्टा बन कर कैसे रहना पसन्द करता जब कि महामात्य का उच्चपद मैं सम्भाल रहा था।"

आचार्य धर्मेश्वर का हृदय द्रवित हो गया। उसने कहा—"मैं राजनीति को दूर से ही प्रणाम करना चाहता हूँ किन्तु इस गणतन्त्र को छोड़ नहीं सकता। गणतन्त्र मानवता का विकास करता है।"

वर्षकार ने सिर पर हाथ रख कर कहा—"आचार्य मैं कभी भी गणतन्त्र की प्रशंसा नहीं करता था क्योंकि मेरी नकेल साम्राज्यवाद की पूंछ से बँधी थी। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरा संस्कार ही हीन हो गया था। राजा जो एक व्यक्ति मात्र है, लाखों-लाखों गरीबों का शोषण केवल अपने मुख-मौज और अपनी तानाशाही को कायम रखने के लिए करता रहता है। यह बहुत ही जघन्य-स्थिति है महोदय।"

धीरे-धीरे वर्षकार धर्मेश्वर के विश्वास को प्रभावित करने लगा। वह सदा उसकी कुटिया में रहता, बाहर शायद ही कभी निकलता। वर्षकार को ज्ञात था कि उस पर गुप्तचरों की निगाह जरूर रहती होगी क्योंकि वह शत्रु-राज्य का महामात्य था। वर्षकार अपने व्यवहार पर

पूरा ध्यान रखता कि कहीं से भी संदेह या गलतफहमी की झलक न मिलने पावे। वह एक धर्मनिष्ठ वृद्ध ब्राह्मण की तरह संध्या-वन्दन, सन्ध्या-प्राणायाम और मनन-चिन्तन में ही सारा समय व्यतीत करता था। फल-दूध या जो कुछ और जितना मिल जाता था उसी को ग्रहण करके संतोषपूर्वक धरती पर लेट कर रात काट डालता था।

धर्मेश्वर एक तपस्वी की तरह रहता था। उसके आश्रम में दो-तीन गायें थीं, कुछ केले आदि के वृक्ष थे। यही उसकी सम्पत्ति थी। धर्मेश्वर का एक शिष्य था जो आश्रम की सेवा-टहल किया करता था—धर्मेश्वर उसे समय निकाल कर पढ़ाता था। वर्षकार ने भी धर्मेश्वर के उस शिष्य को पढ़ाना आरम्भ किया जिसकी स्वीकृति धर्मेश्वर ने खुशी-खुशी दे दी थी। वह शिष्य एक नवयुवक और अत्यन्त मेधावी तथा चतुर था। वह धर्मेश्वर की सेवा पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा से करता था तथा आश्रम में ही रहता था।

एक दिन दोपहर को जब धर्मेश्वर परिषद् में भाग लेने चला गया था, धर्मेश्वर का वह विद्यार्थी वर्षकार से बोला—"आपने शायद नहीं देखा है। मुझे बड़ा आश्चर्य जान पड़ता है।"

वर्षकार ने पूछा—"कैसा आश्चर्य ?"

शिष्य कहने लगा—"मैं दस वर्ष से आचार्यदेव के चरणों की सेवा कर रहा हूँ। आश्रम के पीछे एक पुराना पीपल का वृक्ष था, उस पर एक नीम का वृक्ष न जाने कहाँ से पैदा हो गया। धीरे-धीरे नीम बढ़ने लगा उसी पीपल के रस का शोषण करके। नीम की जड़ें बूढ़े पीपल के भीतर घुसती गईं। आज देखता क्या हूँ कि पीपल—वह पुराना पीपल बीच से दो टुकड़ों में फट गया और उसकी छाती पर नीम पूर्ण ओज से खड़ा लहरा रहा है।"

घबरा कर वर्षकार बोला—"ऐसा होता है, ऐसा तो होता ही है—इसमें आश्चर्य क्या है—आश्चर्य!"

जीवन और साथी

जो जीवन को सार्थक वस्तु समझता है, उसे प्यार करता है, बना-सवार कर रखना चाहता है उसका मन संगी-साथी भी ढूंढता है क्योंकि मानव अकेला रहने का अभ्यासी अपने आरम्भिक-युग में ही नहीं है। वह शरीर का साथी नहीं मन का साथी और सम्भव हो तो प्राणों का साथी खोजता है। इस पार के ही साथी से उसे तोष नहीं मिलता उस पार तक साथ देने वाला साथी उसे चाहिए। उपदेशक कहते हैं कि—"गैंडे की तरह एकाकी विचरण करो, साथी-संगी की आवश्यकता नहीं है।"

हम इस तर्कवाद से डरते हैं। बुद्धि की कलाबाजियाँ हमें प्रिय नहीं हैं। उत्पला ने अपने जीवन-संगी शीलभद्र को विदा कर दिया। वह एक जोरदार लहर थी जो एक किनारे से आकर दूसरे किनारे तक पहुँची, वह से टकराई और समाप्त हो गई। कभी-कभी मानव क्षणिक उत्तेजना या भावुकता के कारण अपने को ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है कि वह वहां टिक भी नहीं सकता और लौटने का रास्ता भी बन्द हो जाता है। उसके जीवन की यह ऐसी गलती होती है जिसका वह प्राण देकर भी संशोधन नहीं कर पाता और जब तक जीता है भीतर ही भीतर जलता रहता है जैसे ईंटों का 'पजावा'

भीतर ही भीतर जलता है, जैसे ईंटें पका करती हैं; बाहर से देखने पर आग दिखलाई नहीं पड़ती।

उत्पला की भी ऐसी हीद था हुई। उसने क्षण भर में ही अपना निर्णय बदल दिया और भिक्षुणी के जीवन में ही लिपटे रहना स्वीकार कर लिया। वह नहीं जानती थी कि किसी अदृश्य आघात ने उसके मन की जड़ों को उखाड़ डाला या जिसे वह बड़े परिश्रम से त्याग और तपस्या की भूमि पर जमा कर निश्चिन्त मन से परलोक या निर्वाण का चिंतन किया करती थी। शीलभद्र के जाने के बाद उसने अनुभव किया कि जिस धरती पर वह पैर जमा कर खड़ी थी वह धरती ही गायब हो गई—अब वह हवा पर तैर रही है। हठी स्वाभाव के कारण उत्पला ने फिर से तपस्या की धरती पर जम कर, दृढ़ता पूर्वक खड़ा रहना चाहा पर उसकी सारी चेष्टायें बेकार होने लगीं। वह मन को टिका कर ध्यान करने का प्रयास करती तो उसके सामने शीलभद्र की मूर्ति आकर खड़ी हो जाती, वह अपने गुरु के उपदेश सुनने का प्रयत्न करती तो शीलभद्र की बातें उसके दिमाग में गूँजने लगती—"चलो उत्पला, चलो उत्पला, चलो उत्पला।"

वह कभी-कभी झुँझलाती और अपना सिर पीट लेती पर उपाय क्या था। पारे की तरह उसका मन बिखर चुका था जिसे वह बटोर कर फिर एक जगह जमा करने का प्रयास करती थी किन्तु ज्यों-ज्यों वह पारे के नन्हें-नन्हे चमकदार कणों को बटोरने के लिए जोर लगाती वे कण और भी बिखरते जाते। उत्पला थक कर हाँफने लगती और भीतर से दरवाजा बन्द करके अपनी कुटिया में सो रहती। जो फूलों के नन्हे-नन्हे पौदे उसने लगाये थे वे सूखने लगे, झोंपड़े पर जो हरी-हरी पत्तियों वाली वेलें फैली हुई थीं वे भी सूखने लगीं—न तो वह किसी भी पौदे में पानी डालती और न उनकी देख-भाल करती थी। वह अपने आप में इतना उलझ चुकी थी कि उसे बाहर की ओर देखने की छुट्टी ही नहीं मिलती थी। उसका मन सिमटता हुआ उसके भीतर

जाकर जख्म की तरह पक गया था जैसे एक ही जगह पर जम जाने से खून जहरीला होकर जख्म बन जाता है या बंधा हुआ पानी सड़ जाता है। जिस वस्तु में रवानी नहीं होती, गति नहीं होती उस वस्तु में सड़ाँद पैदा हो ही जाती है। उत्पला का मन भी सड गया, जहरीला बन गया। वह चिड़चिड़ापन अनुभव करने लगी। वह अपने ऊपर, हवा और धूप पर भी झुंझला उठती तथा कभी-कभी तो अपने पूज्य उपदेशक के प्रति भी उसका मन वेतरह उग्र हो उठता।। वह इन भयावह परिवर्तनों का अनुभव तो करती किन्तु रोकने का कोई उपाय उसके पास न था, जैसे तेज नदी कगारों को काट-काट कर गिराने लगती है तो उसे ऐसे भयानक कार्य से अलग नहीं किया जा सकता। मानव खड़ा-खड़ा देखता है और उसका गाँव, घर, खेत सब कुछ नदी के पेट में घुसता चला जाता है। उत्पला भी देखती रही और उसकी साधना, तपस्या, शान्ति, चित्त की एकाग्रता, मन की स्थिरता, निष्ठा, श्रद्धा सब एक-एक करके विलीन हो गये—मन-नदी के तेज प्रवाह ने इन सारी वस्तुओं को निगलना शुरु कर दिया। अन्त में उत्पला ने अपने को अकेला पाया—उसने जिन साथी-संगियों के बल-भरोसे पर जीवनद्र की भिक्षा-झोला को दूर फेंक दिया था, उसके वे साथी-संगी गायब हो गये। मन के भीतर जिस दुनिया को उसने बसाया था उसे मन ही ने निगल डाला। अब इस महाशून्य आकाश के नीचे एक लक्ष्य-हीन अभागिन की तरह खड़ी-खड़ी हाथ मलती और बिसूरती रही नवयुवती, परम सुन्दरी भिक्षुणी उत्पला!

वह न इधर की रही और न उधर की। दो दुनिया को एक में जोड़ने वाली जो कड़ी थी उसका कहीं पता न था—उत्पला की दोनों दुनिया दो ओर खिसक चुकी थी और बीच में जो शून्य रेखा थी वहीं उत्पला ने अपने को पाया। उसका इहलोक भी उससे दूर टूट गया और परलोक भी। अब वह थी और उसके सामने था उसका भिक्षापात्र। भीख माँगना और खाना यही एक काम उसके लिये रह गया!!!

जिस परोक्ष-लाभ या हित के लिये उसने प्रत्य का तिरस्कार करके

भिक्षापात्र उठाया था उस परोक्ष-लाभ या हित की ओर से उसका मन उचट चुका था, उसके घोड़े का मुंह दूसरी ओर मुड़ गया था—जिधर वह जाना चाहती थी उसकी उल्टी दिशा की ओर !

उत्पला को अब भिक्षा मांगना भारी लगता था, चीवर पहनना भी अच्छा नहीं लगता था, किन्तु उपाय क्या था—न वह कहीं जाने की स्थिति में थी और न झोंपड़ी में रहकर अपने को निःशेष तक जलते देखने का धैर्य उसमें था। वह घबराती और उसे ऐसा लगता कि उसका कलेजा रह-रह कर उलटने लगता है जिसे वह बड़ी कठिनाई से संभाल पाती। जीवन के सम्बन्ध में उसने जो फैसला किया था, अपना जो निर्णय दिया था वह निर्णय फांसी की रस्सी बन कर उसके गले में कस गया। यह भी विधि का ही विधान था।

उत्पला ठीक ऐसी स्थिति में पहुँच गई थी जैसे दवा के धोखे में कोई ऐसा विष खा जाय जिसका असर धीरे-धीरे वर्षों तक शरीर को छलनी बनाता रहे और बहुत दिनों के बाद घुला-घुला कर मौत की डरावनी गोद में डाल दे।

एक रात को जब पूर्णिमा का चाँद आकाश के ऊपर चढ़ रहा था और घुली हुई सर्दी पड़ रही थी, उत्पला बिल्कुल ही अधीर हो गई। उसमें अपने आपको कुँद छुरी से रेतने की जितनी ताकत थी, धीरज था, रेतती रही किन्तु अब वह ताकत गायब हो गई थी। सहनशक्ति समाप्त हो जाने के बाद दर्द दून वेग से झकझोरता है, उसका बाँध टूट जाता है और रुका हुआ दर्द भी बाढ़ के पानी की तरह रोम-रोम में प्रवेश करने लगता है। उत्पला छटपटाती हुई कुटिया से बाहर निकली—तीखी हवा के झोंके उसके उत्तप्त ललाट को वसन्त की हवा की तरह प्रिय लगे। वह खड़ी हो गई। वह दरवाजे पर खड़ी रही और सामने निर्जन मैदान और पहाड़ियों को देखती रही। हवा के झोंके आते रहे और वृक्षों के पत्तों को कंपाते हुए उत्पला के शरीर को स्पर्श करते रहे, जिसका अनुभव उत्पला को न था। वह खड़ी-खड़ी देख रही

थी, देखती रहीं।

रात आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी, इसी समय कुछ मास पहले शीलभद्र उसके निकट आया था। जिस समय के साथ जिस ज्वालामयी स्मृति का गठबन्धन हो गया था, उस समय, उस घड़ी का आना उत्पला के लिए भयानक आघात था, किन्तु घड़ी की सूई रोक देने से समय की सूई तो रुक सकती नहीं। उत्पला ने आकाश की ओर देख कर अनुमान लगाया कि यही समय है जब शीलभद्र आया था। वह चिल्ला उठी और सामने मैदान की ओर दौड़ी यह कहती हुई—"ठहरो, मैं भी चलूंगी" उसकी यह तीखी आवाज रात के सन्नाटे में कम्पन उत्पन्न करती हुई चारों ओर गूंजने लगी। यह आवाज कुछ क्षण के बाद दूर से सुनाई पड़ी—फिर और दूर से, बहुत से। इसके बाद सन्नाटा छा गया।

रात समाप्त होने लगी। उत्पला की झोंपड़ी का दरवाजा हवा के झोंकों से खड़खड़ा उठता था और भीतर की चीजें भी इधर-उधर बिखरने लगी थीं।

एक-एक दिन करके एक सप्ताह समाप्त हो गया।

एक रात को उस झोंपड़ी के भीतर दो-तीन गीदड़ घुसे—वे डरते डरते भीतर घुसे किन्तु निकले निर्भय-चित्त से क्योंकि वहां कोई न था।

दूर-दूर पर भिक्षुणियों की झोंपड़ियां खड़ी थीं। वे कहती थीं कि जब चांदनी रात आती है तो वन की ओर से तीखी वेदनाभरी आवाज रह-रह कर दो-तीन बार आती है—"ठहरो मैं भी चलूंगी।"

भिक्षुणियों का हृदय कांप उठता था उस आवाज को सुनते ही, और भय से कातर होकर अपना चीवर लपेट कर अपनी झोंपड़ी के किसी कोने में सिकुड़ी हुई बैठ जाती थी।

कैसी थी वह डरावनी और दर्दभरी आवाज—'ठहरो, मैं भी आती हूं।"

कुछ दिनों के बाद इस आवाज की कहानी मात्र रह गई और फिर

निर्वाण-पथ के पथिक इस बेकार कहानी को भी भूल कर ध्यान-धारणा में लग गये।

इस विस्मृतशील दुनिया में ऐसी कहानियों का अंत नहीं है किन्तु शीलभद्र ने जब यह कहानी सुनी तो वह दोनों हाथों से थाली थाम कर जहाँ पर खड़ा था वहीं बैठ गया।

वैशाली से शीलभद्र किसी आवश्यक प्रयोजन से राजगृह लौटा था। उसने रात को लुक-छिप कर उत्पला की झोंपड़ी तक आने का साहस किया—वह झोपड़ी आधी ढह चुकी थी और उसकी 'छाजन' के घास-फूस हवा में बिखर गये थे। कहानी तो खत्म हो चुकी थी किन्तु कहानी सुनने वालों की नींद भी कहानी के साथ ही साथ विदा हो गई थी—यह रहस्यवाद है, और हम क्या कहें।

शीलभद्र ने दूर से खड़े होकर झोंपड़ी को देखा और उसे ऐसा लगा कि उस अधढही झोंपड़ी के भीतर से उत्पला झाँक रही है, वह ढही हुई दीवार के भीतर खड़ी है।

शीलभद्र हँसा और पीठ फेर कर चला गया। वहाँ फिर सन्नाटा छा गया, फिर उदासी छा गई।

रात समाप्त हो गई। दिन आया और दिन के प्रकाश में उस झोंपड़ी ने मानो हृदय खोल कर रख दिया।

अचरज और कष्ट इस बात का है कि उस झोंपड़ी के आस पास ऐसे अति-मानवों की बस्ती थी जिनके शरीर में हृदय नाम की कोई चीज ही नहीं थी—हृदय जो देख सकता है, पहचान सकता है।

पागल का प्रलाप

वैशाली के नागरिकों को एक पागल ने त्रस्त कर डाला था—यह बात विश्वास के योग्य नहीं, कोई विश्वास करे या न करे सचाई अपनी जगह से कभी भी नहीं खिसकती। वह पागल गलियों में घूमता राजपथ पर भी नजर आता, उत्सव स्थानों और पूजा-स्थानों को भी वह अपने अर्थ-हीन प्रलाप से मुखरित करता रहता। उसने गलियों में शोर मचाना शुरू किया—"घर में साँप घुसा है, सोने वालो सावधान !"

चिल्लाते-चिल्लाते उसका गला बैठ गया, चलते-चलते ही पैरों में सूजन आ गई किंतु उसने अपनी राह नहीं बदली, अपनी धुन नहीं छोड़ी। पहले तो नागरिकों ने उसकी पुकार की ओर ध्यान नहीं दिया किन्तु रात दिन एक ही बात सुनते-सुनते लोगों के चेहरों पर प्रश्न के चिन्ह नजर आने लगे—आखिर बात क्या है, यह क्या कह रहा है ? कुछ लोगों ने उस नवयुवक और सुन्दर पागल को रोक कर पूछा—"कहाँ साँप घुसा है, तुम क्या बक रहे हो ?"

पागल ने हँस कर जवाब दिया—"तुम्हारे घर में ! मैं तो अनागरिक हूँ, मुझे कोई भय नहीं है।" इतना बोल कर वह पागल एक ओर चला गया। दूर-दूर से उसकी आवाज आती रही—"घर में साँप घुसा है, सोने वालो सावधान !"

उस पागल की पुकार ने जनता के दिमाग में अपना स्थान बना लिया किन्तु वह स्थान प्रश्नात्मक था। धर्मेश्वर ने अध्यक्ष नीतिरक्षित से एक दिन कहा, समझ मे नही आता, एक पागल जो देखने में बडा तेजस्वी और सस्कारवान् जान पडता है एक मास से नगर मे चिल्ला रहा है कि—"घर मे सांप घुसा है। सोने वालो सावधान !'

नीतिरक्षित गम्भीर स्वर में बोला—"मैंने भी सुना है।"

बात यही समाप्त हो गई किन्तु जब नगर मे जगली आग की तरह यह खबर फैली कि गणतन्त्र का सेनाध्यक्ष रात को ऐसी नीद में सो गया कि फिर नही जागा तो चिन्ता फैल गई। पागल ने फिर शोर मचाना आरम्भ किया—"सावधान भाइयो, घर में सांप घुस गया है।"

जब कि मगध की सेना पूरी ताकत लगा कर हमला करने की तैयारी कर रही हो वैशाली गणतन्त्र के अनुभवी और वीर सेनाध्यक्ष का इस तरह मर जाना घोर दुर्भाग्य नही तो और क्या कहा जा सकता है। नागरिको का हृदय धड़क उठा—जरूर कुछ न कुछ दाल में काला है।

उस पागल को घेर कर लोगों ने पूछना शुरू किया किन्तु वह कुछ भी नही बोला—केवल अपनी पुकार दुहराता रहा—"घर मे सांप घुस गया है। सोने वालो सावधान।"

सेनाध्यक्ष की सदिग्ध मृत्यु की दुश्चिन्ता ने धर्मेश्वर को विचलित कर दिया। उसने मंत्री-परिषद की बैठक बुलाई और अपना विचार परिषद के सामने रखा।

धर्मेश्वर ने कहा—"एक पागल शोर मचाता फिरता है कि 'घर में सांप घुस गया है।' सेनाध्यक्ष का एकाएक मर जाना यह प्रमाणित करता है कि घर मे जरूर सांप घुस गया है।"

एक मन्त्री ने कहा—"हमारा घर इतना मजबूत है कि साप तो क्या चीटी भी भीतर नहीं घुस सकती।"

दूसरे मन्त्री ने कहा—"क्या पागल के प्रलाप पर विचार करने के लिए परिषद बुलाई गई है?"

तीसरे मन्त्री ने कहा—"हमारे प्रधानमन्त्री का हृदय यदि भयव्यग्र हो गया है तो वे किसी स्वास्थ्य-प्रद स्थान पर जाकर कुछ दिन विश्राम करें।"

धर्मेश्वर ने कहा—"मैं जरूर भयभीत हो उठा हूं। जैसी सूचनायें मिल रही हैं वे चिन्ता बढ़ाने वाली हैं। हमारी अच्छी-अच्छी सी नावें जहाँ-तहाँ डूब गईं। हमारे नौ-व्यापार पर आघात तो लगा ही, सेना के सचालन में भी विघ्न पैदा हुआ।"

एक मन्त्री बोल उठा—"ऐसी घटनायें तो होती ही रहती हैं—इन्हें कोई रोक नहीं सकता। पुरानी नावें डूब गईं तो क्या हुआ, नई बन जाएंगी।"

धर्मेश्वर कहने लगा—"आप लोग इन छोटी-छोटी घटनाओं को टाल देना चाहते हैं। छोटी सी गलती कभी-कभी वज्रपात कर देती है।"

धर्मेश्वर की इस चेतावनी का कोई असर किसी पर नहीं पड़ा। उदास और थके हुए वातावरण में मंत्रिपरिषद् की बैठक समाप्त हो गई।

धर्मेश्वर ने अध्यक्ष से कहा—"मैं समझता हूं कि हमारे भीतर आवश्यकता से अधिक आत्मविश्वास पैदा हो गया है जो एक खतरा है।"

नीतिरक्षित ने पूछा—"यह कैसे समझा आपने ?"

"मैंने ठीक ही समझा"—धर्मेश्वर ने उत्तर दिया—"आत्म-विश्वास तो गुण है किन्तु वह यदि सीमा पार कर जाय तो लापरवाही और अहंकार की वृद्धि हो जाती है, जो किसी भी सुगठित राष्ट्र का नाश कर सकता है। हमारे मंत्री यह सोचने को भी तैयार नहीं हैं कि सेनाध्यक्ष का अकाल-निधन, शताधिक बड़ी-बड़ी नावों का सदिग्ध रूप में नष्ट हो जाना, सैनिक अस्त्र के संग्रहालय में आग लग जाना आदि घटनायें यह बतलाती हैं कि हमारे घर के भीतर जरूर सांप घुस गया है। पागल की पुकार में कुछ तथ्य है।"

नीतिरक्षित ने अपनी सहमति जताई और धर्मेश्वर उदास मन से

अपनी कुटिया मे लौट आया। उसने देखा कि वर्षकार शान्त चित्त से बैठा ध्यान कर रहा है। वह दूर से देखने पर आदि-युग का ऋषि जैसा जान पड़ता था। हिम-धवल दाढ़ी मूंछ और सिर के बाल, गौरवर्ण तथा चमकदार उन्नत ललाट पर केसर का पीला कुछ लालिमायुक्त भव्य-तिलक—यही रूप था वर्षकार का, जो आँखें बन्द करके यह सोच रहा था कि कैसे वैशाली की ईंट से ईंट लड़ाई जा सकती है। आज तक निरामिष कौवा और भक्त कूटनीतिज्ञ नहीं देखा गया था ! ! !

धर्मेश्वर ने जब वर्षकार को ध्यानमग्न देखा तो वे कुछ दूर पर ही रथ से उतर गये जिससे चक्कों की घड़घड़ाहट से उसका ध्यानभंग न हो जाय। वर्षकार ने अपनी साधुता का अच्छा प्रभाव फैला रखा था। वह राजनीति का एक शब्द भी मुंह से नहीं निकालता और यदि बोलता भी तो—धर्म, परलोक, निर्वाण, संसार की असारता या ज्ञान-विज्ञान की बातें ही मुह से निकालता। वह छह महीनों से धर्मेश्वर की कुटिया में पड़ा था। धर्मेश्वर मन ही मन वर्षकार का आदर करने लगा था। आदर के साथ विश्वास का भी नाता रहता है। हम जिसका आदर करते हैं उसका विश्वास भी करते हैं—ऐसा नही हो सकता कि आदर तो करें किन्तु विश्वास न करें।

एक रात को धर्मेश्वर ने वर्षकार से कहा—"मित्र, समझ में नहीं आता कि जनता के मन में पहले जैसी निष्ठा नहीं रही और न हमारे अधिकारी ही तन्मय होकर राज्य की सेवा करते नजर आते हैं।"

वर्षकार सोच कर बोला—"जनता पर भरोसा नहीं किया जा सकता। वह तो ऐसी घटना मे ही रस लेती है जो सनसनी पैदा कर देने वाली हो। ठोस, गम्भीर और निर्माणात्मक बातों में जनता रस नहीं लेती। जनता को दो घड़ी जी बहलाने के लिये गरमागरम चटपटी मसालेदार चटनी जैसी कोई चीज चाहिये, चाहे उसका अहित ही क्यों न हो, वह रस लेगी ही।"

धर्मेश्वर ने चौंक कर पूछा—"क्या स्वतन्त्र जनता भी ऐसी ही होती है ?"

वर्षकार ने कहा—"अवश्य ! क्या आपने कभी सुना है कि समष्टि ने कोई बहुत बड़ा सुधार या श्रेष्ठ काम कभी किया है ? व्यक्ति ही सुधार की बातें सोचता है, श्रेष्ठ कार्य की नींव देता है और जनता को उत्साहित करके उसमें लगा दिया जाता है। जनता की सम्मिलित शक्ति का उपयोग किया जा सकता है किन्तु उस पर भरोसा नहीं रखा जा सकता।

धर्मेश्वर गम्भीर होकर सोचने लगा। वर्षकार फिर बोलने लगा—"आपके कर्मचारी भी कुछ इसी तरह के हैं। प्रत्येक कर्मचारी अपने को, अपने ऊपर के अधिकारी से श्रेष्ठ मानता है। ऐसी दशा में अनुशासन का निर्वाह कैसे होगा, यह आप ही सोचिये। अनुशासन गया कि राज्य का सारा गठन धराशायी हो गया।"

धर्मेश्वर ने कहा—"ठीक ही आपने कहा। एक स्वतन्त्र राष्ट्र और पराधीन राष्ट्र में बड़ा अन्तर रहता है। हमारे राज्य में कोई बड़ा छोटा नहीं है।"

वर्षकार हँस कर बोला—"आप सहजात गुणों या दुर्गणों को जड़मूल से समाप्त करने की आशा क्यों रखते हैं ? मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और उसके इस दावे का यही प्रमाण है कि वह कभी भी अपने को दूसरे से छोटा नहीं मानता। परिस्थिति के दबाव से वह दबा रहे, यह दूसरी बात है।"

"हो सकता है"—धर्मेश्वर बोला—"मेरा ऐसा अनुभव है कि हमारे राज्य का प्रत्येक नागरिक समान सुविधाओं का उपभोग करता है। अध्यक्ष और उसका टहलुआ, दोनों को समान नागरिक-प्रतिष्ठा प्राप्त है, कोई किसी से हीन नहीं है—पद की बात अलग रहे। ऐसी स्थिति में कैसे अनुशासनहीनता हमारे कर्मचारियों में प्रवेश कर सकती है। मैं समझ नहीं सकता।"

वर्षकार ने चुप्पी लगा ली। धर्मेश्वर ने भी इस चर्चा को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा।

दिन के बाद रात आई और इस तरह एक सप्ताह समाप्त हो गया। नगर-कोतवाल जो एक उच्च चरित्र का व्यक्ति था 'चित्रमाला' वेश्या के घर में मरा पाया गया। उसका सिर किसी ने काट लिया था—वेश्या गायब हो गई थी या गायब कर दी गई थी। इस दुर्घटना ने नागरिक जीवन में विक्षोभ पैदा कर दिया और सभी व्यग्र हो गये। धर्मेश्वर का हृदय भी विचलित हो गया। वह पागल दोनों हाथों से छाती पीटता हुआ गली-गली चिल्लाने लगा—"अरे सोने वालो जागो, घर में साँप घुस गया है—साँप, साँप, साँप !"

वैशाली के नागरिकों ने यह मान लिया कि वह पागल कोरा पागल ही नहीं है।

सेनाध्यक्ष पद किसे दिया जाय—यह एक गम्भीर सवाल बन चुका था कि नगर-कोतवाल का पद खाली हो गया। मंत्री-परिषद् की बैठक में एक मंत्री ने साफ-साफ कह दिया—"सेनाध्यक्ष का पद किसी शाक्य-वंशीय क्षत्रिय को ही दिया जाय—यदि दूसरी जाति के किसी व्यक्ति को दिया गया तो शाक्यवंशीय क्षत्रिय विद्रोह कर देंगे।"

विद्रोह—यह कैसी बात है। धर्मेश्वर पसीने-पसीने हो गया। अपने वर्षों के अनुभव को उसने बेकार समझा। यहाँ हवा बदल रही थी। उसे ऐसा जान पड़ा कि वैशाली देखने में तो वहीं पर कायम है जहाँ पर वह थी किन्तु उसके नीचे की धरती बहुत दूर खिसक चुकी है, आसमान बहुत दूर खिसक चुका है। धर्मेश्वर का प्रभाव भी क्षीण होता जा रहा था। त्यागी धर्मेश्वर का ध्यान अपनी ओर न था—वह बाहर से राजनीतिज्ञ किन्तु भीतर से मानव था, शुद्ध मानव ! उसने वर्षकार [illegible] कहा—"मैं सोचता हूँ कि जनता की सेवा अपने लिये नहीं की जाय। मजदूरी की लालसा मन में रख कर जब हम सेवा करने चलेंगे तो सेवा की पवित्रता ही नष्ट हो जायगी। इस तरह तो हम अपनी सेवा को कुछ धन

या लाभ के लिये बेच देंगे । सेवा बेचने की चीज नहीं है ।"

वर्षकार यह तर्क नहीं समझ सका क्योंकि न तो उसे ऐसी बातें सोचने की आदत थी और न समझने की । कसाई जब गाय खरीदता है तो वह उसके दूध का मोल-भाव न करके मांस का ही सौदा करता है । यही मानसिक स्थिति वर्षकार की थी । धर्मेश्वर उसके सामने दुधार गाय पेश करके दूध के अमृतोपम गुणों का वर्णन कर रहा था किन्तु वर्षकार यह अन्दाज़ लगा रहा था कि इस गाय में कितना मांस होगा और उससे लाभ कितना मिलेगा ।

जब धर्मेश्वर चला गया तो वर्षकार धीरे से बोला—"अरे अभागे, यह राजनीति का मोर्चा है । यहाँ नीति-अनीति की रट लगाने वाले की जीभ तराश ली जाती है ।"

× × ×

वैशाली के निकटस्थ वन में चार व्यक्ति रात को जमा हुए—एक अन्धा भिखारी, दूसरा कुष्ठी, तीसरा पागल और चौथा मदारी ।

चारों एक झाड़ी के पीछे बैठ गये । आश्चर्य यह कि वहाँ पहुँचते ही अन्धे को आँखें मिल गईं, कुष्ठी का रोग भाग गया, पागल ज्ञानी बन गया और मदारी विद्वानों की तरह अपने विचार प्रकट करने लगा । वे किसी गुप्त भाषा में बोल रहे थे किन्तु बीच-बीच में वर्षकार का नाम सम्मानपूर्वक उनके मुँह से निकल जाता था । आधी रात को वे विचार-विमर्श करते रहे और फिर जैसे ही बातें खत्म हुईं अपने पूर्व रूप में आ गये । अब वे अन्धा, कुष्ठी, पागल और मदारी बन कर इधर-उधर बिखर गये ।

दूसरी बार वे एक जंगली नाले में मिले तीसरे दिन श्मशान में और चौथे दिन एक-एक करके वर्षकार के दर्शन कर आये, जो धर्मेश्वर की पवित्र कुटिया को अपनी घृणित-उपस्थिति से गंदा बना रहा था ।

वधकार की सॉप जैसी डरावनी आँखों ने चोरों को इशारे से कुछ आदेश दिया और वे खिसक गये।

एक दिन भोर को उठ कर वैशाली के नागरिकों ने यह कुसंवाद सुना कि –वह पागल जो बहुत अर्से से "घर में साँप घुसा हुआ है सोने वालो सावधान', का नारा लगाकर उन्हें जगा रहा था—जो बाहर में तो जाग रहे थे पर भीतर से सोये हुए थे—मरा पाया गया। उसका गला घोंट डाला गया था। जीभ बाहर लटक गई थी और आँखें डरावनी लगती थीं—गले पर काला-काला निशान था और ऐसा लगता था कि उसे बहुत ही सावधानता किन्तु निर्दयतापूर्वक मार डाला गया। क्या किसी ऐसे व्यक्ति के भी बैरी हो सकते हैं ? हत्याओं का जो डरावना सिलसिला शुरु हुआ था उसने नागरिकों को घबरा डाला—हत्या पर हत्या, पर हत्यारे का कहीं पता नहीं ! वह शीलभद्र था जो पागल हो गया था किन्तु पागल बन कर भी अपनी जन्मभूमि की सेवा कर रहा था ! अब वह नहीं रहा !

ज़हरीला फोड़ा

यह कोई ज़रूरी नहीं है कि ज़हरीला फोड़ा आकार में बेल या कुम्हड़े जितना बड़ा हो—वह राई या मटूर के बराबर भी हो सकता है मगर जिसके शरीर पर वह जन्म लेता है उसके शरीर का सारा खून ज़हरीला हो जाता है। वह स्वयं देखने में भयानक न भी हो किन्तु उसका असर बहुत ही भयानक होता है, संहारक होता है !

वर्षकार ज़हरीला फोड़ा बन कर वैशाली के महामन्त्री की शरण में रहने लगा। गोशाले में छिप कर बैठने वाले बाघ की तरह वर्षकार संत-स्वभाव के धर्मेश्वर की एकान्त कुटिया में बैठ कर शास्त्र-चर्चा, प्राणायाम, ध्यान, व्रत-उपवास और ब्राह्मण-धर्म का पालन करने लगा। विषधर जैसे मणि को धारण किये रहता है उसी प्रकार एक पक्का, छटा, हुआ धूर्त कूटनीतिज्ञ गुणों को धारण करता है। वह अपने गुणों का उपयोग दूसरों के हृदय में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करने के अर्थ में करता है और जो उसके गुणों पर रीझ कर उसके निकट आते हैं, उन्हीं का खून पीकर वह कूटनीतिज्ञ जीता है। वर्षकार भी वैशाली की उस पावन-कुटिया में बैठ कर यही करता था। उसके अगणित गुप्तचर राज्य के कोने-कोने में घूम रहे थे। भिक्षु, संन्यासी, भिखारी, कुष्ठी, ज्योतिषी, उपदेशक—नाना रूप धारण करके भेड़ियों का दल वैशाली

के घर- आँगन मे स्वच्छन्द विचरण करता था। किसी को यह संदेह भी न था कि मुनि व्रत धारण करके कन्द-मूल खाने वाला वर्षकार वैशाली गणतन्त्र की छाती मे छुरा बन कर घुस गया है। बहुत-सी सुन्दरी वेश्यायें भी राजगृह में आ गई थीं जिनका काम था गुप्त रहस्यों का पता लगाना और उच्च अधिनायकों को पतित बनाना। उन वेश्याओं के 'सभाजी' सधे हुए गुप्तचर थे। वैशाली-गणतन्त्र में पानशाला एक भी नही थी। कोई शराबी न था किन्तु गुप्त रूप से मद्य का प्रसार भी हो रहा था। शराब मे ऐसा विष मिला होता था जो बहुत धीरे-धीरे—महीनो में अपना असर पैदा करता था। तेज और सुगन्धित शराब घर-घर पहुँचाई जाती थी—इस काम के लिए वैशाली के व्यापारियों का सहयोग गुप्तचरों को मिला था जो शराब का व्यवसाय गुपचुप रह कर करते थे। व्यापारियो को धन की आवश्यकता थी, अपने देश की नही ! ! !

गुप्त रूप से सारी चीजें राजगृह से वैशाली पहुँचा दी जाती थी। सोने के सिक्कों की कमी न थी—गुप्तचर दोनों हाथो से सिक्कों की वर्षा करते थे और वैशाली के शरीर को छलनी बनाते जाते थे। वर्षकार कुटिया मे बैठा हुआ इस जाल को फैलाता जाता था जिसकी कानो-कान खबर धर्मेश्वर को न थी, किसी को न थी।

वर्ष समाप्त होते न होते वैशाली अपनी पुरानी धुरी से खिसक गई। वर्षकार प्रत्येक दिन का सम्वाद अजातशत्रु के पास भेजता जाता था। अजातशत्रु की रानी ने जब यह संवाद सुना तो उसने अपना सिर पीट लिया। उसका हृदय व्यग्र हो गया।

एक दिन जब अजातशत्रु रानी के निकट बैठा था और उसका एकमात्र राजकुमार खेल रहा था—हाथ-पाँव के बल से फर्श पर चल रहा था तो रानी ने राजा को प्रसन्न देख कर कहा—"मैं क्या सुनती हूँ आर्यपुत्र, महामात्य वर्षकार वैशाली मे जाकर बस गये ?"

अजातशत्रु ऐसा चौंका जैसे उसके पावो के नीचे साँप आ गया हो।

उसने घबरा कर पूछा —"यह तुमने कैसे जाना मगधेश्वरी ?"

रानी ने मुस्करा कर कहा—'बात तो छिपी नहीं रहती महाराज, आप वैशाली को क्षमा कर दें।"

अजातशत्रु की आँखें लाल हो गई। वह गुर्रा उठा और बोला—"सावधान महारानी, तुम राजनीति के चक्कर से बचो। मैं जानता हूँ कि वैशाली को तुम मन ही मन प्यार करती हो। जो मेरे शत्रु को प्यार करे वह भी मेरा शत्रु ही है।"

इतना बोल कर अजातशत्रु उठ खड़ा हुआ और क्रोध से तिलमिलाता हुआ बोला—"मुझे यह जान कर बड़ा क्षोभ हुआ कि तुम मेरे रहस्यों को जानने की चेष्टा में लगी रहती हो। यह तो साफ षड्यन्त्र है। राजा षड्यंत्र को सहन नहीं कर सकता।"

रानी भय से काँपने लगी। बच्चा रेंगता हुआ बरामदे के दूसरे छोर तक चला गया, किन्तु रानी का ध्यान उस ओर न था। यदि बच्चा जरा-सा भी और आगे बढ़ता तो सीढ़ियों से लुढ़कता हुआ नीचे चला जाता। रानी का ध्यान भंग हुआ तो वह उठ कर झपटी।

अजातशत्रु ने रानी को बीच में ही रोक कर स्वयं बच्चे को उठा लिया और कहा—"रानी, यह बच्चा मगध का सम्राट् बनेगा—यह तुम्हें नहीं भूलना चाहिये। इसके शरीर का स्पर्श राजद्रोहिनी करे मैं सहन नहीं कर सकता। इसे तुम छू नहीं सकती।"

रानी भय से काँपती हुई खड़ी रह गई और आँसू भरी आँखों से चंचल शिशु को देखने लगी—वह एक बेबस कातर माँ की स्नेहमयी दृष्टि थी, मगधेश्वरी की नजर नहीं।

बच्चा दोनों हाथ फैला कर माँ की गोद में जाना चाहता था किन्तु अजातशत्रु ने उसे अपनी गोद में सभाल रखा था। जब बच्चे ने रोना शुरू किया तो अजातशत्रु चिल्ला कर बोला—"अभागा राजकुमार,

चिल्लाया तो नीचे फेंक दूंगा। तू उस औरत की गोद में नहीं आ सकता जो राजा ....।"

रानी बोली—"महाराज, दासी को क्षमा कर दीजिये......।"

रानी दोनों हाथ पसार कर बच्चे को गोद में लेने के लिये आगे बढ़ी। माता को जो नैसर्गिक अधिकार मिला है उसी का वह उपभोग करना चाहती थी—किसी से आज्ञा लेकर माँ अपने बच्चे का स्पर्श करे, इससे बढ़ कर अत्याचार और क्या हो सकता है। न्याय-अन्याय का विशेष महत्व वहां नहीं रह जाता जहां एक अत्यन्त दुर्बल और दूसरा अत्यन्त बलवान होता है। न्याय पर भी बलवान का ही पूर्ण अधिकार होता है—वह जिधर चाहे न्याय की नकेल मोड़ दे। रानी अपने बच्चे को गोद में लेने के लिये दोनों हाथ पसार कर आगे बढ़ी, बच्चा भी माँ की गोद में जाने के लिये लपक कर उचक पड़ा पर अजातशत्रु की गर्जना ने दोनों के उमड़ते हुए स्नेह की बाढ़ को जहां का तहां रोक दिया—रानी भी एक कदम आगे बढ़ कर रुक गई और बच्चा भी कांप उठा।

अजातशत्रु बोला—"खबरदार! इस बच्चे पर तेरा कोई अधिकार नहीं रहा। मैं कह चुका हूँ तुम मगध के भावी सम्राट् के पवित्र शरीर को स्पर्श नहीं कर सकती—वहीं ठहरो।"

रानी को जैसे काठ मार गया। वह सिर झुका कर पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रही और अजातशत्रु क्रोध से फूत्कार छोड़ता हुआ चला गया। रानी कुछ देर अपनी जगह पर खड़ी रही और फिर वहीं फर्श पर बैठ गई। दूर-दूर से झांक कर दासियाँ देखती थीं, सखियाँ देखती थीं, दास देखते थे किन्तु कोई निकट नहीं आता था। मगधेश्वरी मर चुकी थी, क्षणभर में ही उसके महिमामय जीवन का अन्त हो चुका था, राजा के इंगितमात्र से मगध की महारानी सिंहासन पर से लुढ़क कर पादपीठ पर गिर पड़ी थी। अब वह एक साधारण स्त्री थी, साधारण

स्त्री से भी गिरी हुई, 'राजद्रोह' का पाप सिर पर लादे वह एक अभागी स्त्री मात्र थी जिसका भविष्य अन्धकारपूर्ण था। वह बन्दीगर में भी मरने की घड़ी तक रह सकती थी, नाक-कान कटवा कर राजगृह के राजपथ पर भीख भी माँग सकती थी, कोड़ों की मार से प्राण भी गंवा सकती थी' आग में भी जला दी जा सकती थी, जल्लाद उसे जीवित ही मिट्टी में समाधि भी दे सकता था—सब कुछ संभव था। चित्रों के झरने की तरह रानी की आँखों के सामने से सैकड़ों चित्र झपटे के साथ गुज़रे—वे सभी चित्र भयानक थे; दहला देने वाले थे।

कुछ देर के बाद महल का प्रधान आया और अपनी गूँजती हुई आवाज में राजा की आज्ञा सुना गया—'रानी को सम्राट् ने कृपापूर्वक पदच्युत कर दिया दयामय भगवेदवर की जब तक दूसरी आज्ञा न हो रानी अपने महल में बन्दिनी रहेंगी। जो भोजन बन्दीगृह में मिलता है वही भोजन और कपड़े रानी को भी स्वीकार करना पड़ेगा।"

इतना बोल कर बिना अभिवादन किये अध्यक्ष चला गया। अर्ध-मूर्छितावस्था में रानी ने कुछ नहीं सुना। उसका शरीर जैसे पथरा गया था, सारे शरीर का रक्त उसके दिमाग में खौल रहा था।

यह समाचार जब वर्षकार को मिला तब वह प्रसन्न होकर बोला—"ठीक ही हुआ, मगर उचित तो यह था कि रानी और उसके बच्चे का सिर कटवा डाला जाता—मैं वहाँ होता तो यही करता।"

गुप्तचर ने पूछा—"बच्चे का अपराध ?"

वर्षकार ने कहा—"जब वह बड़ा होगा तब अपनी माता का बदला राजा से जरूर लेगा। बैरी का अन्त उसी समय कर दो जब वह माँ के गर्भ में हो।"

गुप्तचर काँप उठा और बोला—'ऐसी भयानकता !"

वर्षकार मुस्कराया—"यह राजनीति है आयुष्मान् राजनीति की बातों को तुम धर्मनीति और समाजनीति के तराजू पर मत तोलो।

बाल-हत्या, स्त्री-हत्या, गुरु-हत्या, भ्रूण-हत्या आदि हत्याओं की भयानकता धर्मशास्त्रों में है किन्तु राजनीति-शास्त्र में इन हत्याओं का वही महत्व है जो मच्छर-हत्या, पिस्सू-हत्या या खटमल-हत्या का महत्व होता है। तुम यह स्मरण रखो कि क्षमा, दया, ममता आदि के चक्कर में फँसा हुआ राजनीतिज्ञ अपना नाश तो करा ही लेता है अपने राष्ट्र का भी नाश करा देता है।"

गुप्तचर चुपचाप वर्षकार के चरणस्पर्श करके उठा और कुछ दूर जाकर बोला—"यदि यह मनुष्य है तो पिशाच कैसा होता है।"

विष और असर

यह विष महाभयानक होता है जो धीरे-धीरे अपना असर फैलाता है। 'प्रतीक्षा करो और देखो' की नीति के अनुसार जो कूटनीतिज्ञ अपना काम करते हैं वे तेज विष का प्रयोग नहीं करते। उनमें अशेष धीरज होता है, मन को काबू में रखने की ताकत होती है और सांप की तरह अपने पाश को कसते जाने की क्षमता का अभाव नहीं होता। जल्दबाजी यों तो भयानक दोष है, किन्तु अपना काम निकालने वाले चालाक व्यक्ति के लिये जल्दबाजी मौत है। इस तत्व को वर्षकार जानता और समझता था। उसने बड़ी खूबी से धर्मेश्वर के हृदय पर अपनी साधुता का असर पैदा कर लिया था—यह वह विष था जो धीरे-धीरे शरीर को छलनी बना कर प्राण ले लेता है। धर्मेश्वर विद्वान् और संत स्वभाव का राजनीतिज्ञ था—वह ऊँचे आदर्शों की रक्षा करने के लिये मन-प्राण से तत्पर रहता था। उसका विश्वास था कि कोई भी गणतन्त्र तभी फूल-फल सकता है जब वह गुणों के आधार पर स्थित हो। जनता के सोचने, बोलने और कार्य करने का स्तर ऊंचा हो तथा सभी अपने ऊपर शासन करने की क्षमता रखते हों। धर्मेश्वर के सिद्धान्त से वही शासन सब से श्रेष्ठ होता है जो जनता पर कम से कम शासन करे। हर घड़ी शासन और जनता से हाथापाई होती रहे तो शासन

उसी तरह प्राणहीन बना रहेगा जैसे कलछी से औटाते रहने पर दूध पर मलाई नहीं जम पाती। वर्षकार से धर्मेश्वर ने कहा था—"महोदय, शासन तो हम उन पर करते हैं जो शीलहीन होते हैं। जिनका चरित्र ऊँचा होता है, ऐसे व्यक्तियों पर शासन करने की शक्ति किसी भी शासक की नहीं होती। चरित्रवान् व्यक्ति अपने ऊपर स्वयं शासन करते हैं।"

वर्षकार घबरा उठा और बोला—"तो आपका कैसे काम चलता है?"

धर्मेश्वर ने शान्त स्वर में जवाब दिया—"हमारा काम है राज्य को बाहर और भीतर के खतरों से बचाना, अर्थ-व्यवस्था को ठीक रखना और जनता के गुणों का विकास करना और विरोधी तत्वों का अन्त करना या दबाना।"

वर्षकार ने पूछा—"यदि जनता का चरित्र इतना ऊपर उठ गया कि उसे किसी शासन-यंत्र की आवश्यकता नहीं रही तो आप क्या करेंगे?"

"मैं क्या करूँगा"—धर्मेश्वर बोला—"यह तो स्पष्ट है कि शासन का एक काम यह भी है कि वह स्व-शासन की पात्रता जनता में पैदा करे। पतितों पर ही मजबूती से शासन चक्र चलाया जा सकता है। और वह शासन जो कुछ लोगों के ऐश-मौज के लिये हो जनता को कभी उठने नहीं देगा, जैसे लोभी और पतित वैद्य धनी रोगी को खाट से भरसक उठने नहीं देता—वह रोगी को केवल मरने से बचाता रहता है पर रोगरहित होने नहीं देता। वह अधिक से अधिक धन चूसना चाहता है और यही करता है।"

वर्षकार बोला—"मेरी नीति कुछ दूसरी है आचार्य! जनता पर शासन करने के लिये मैं मद्य, जुआ, वेश्या—इन सारी चीजों को जुटाना उचित समझता हूँ। आपस में लड़ाते जाना और कभी नीचे वर्ग को ललकार कर ऊपर उठाना, तो कभी ऊपर के वर्ग को जानबूझ कर नीचे गिरा देना; मैं इसी नीति का पालन करता रहा हूँ। मैं मगध के सिंहासन को किसी सुनार के यहाँ गिरवी रख कर राजा का खर्च

चलाने के पक्ष में नहीं हूँ। मैं आपकी बातें नहीं समझ पाता।"

वर्षकार की बातें सुन कर धर्मेश्वर हँस पड़ा और कहने लगा—"आप साम्राज्य के नेता थे और मैं स्वराज्य का सेवक हूँ। मैं शासक नहीं हूँ और सेवक होने के कारण मुझे अपने कर्त्तव्यों को धर्मपूर्वक निबाहना पड़ता है। यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं धर्म से गिर जाऊँगा। नष्ट हुआ धर्म बड़ा भयानक होता है—वह अपने मानने वालों को भी कुचल कर नष्ट कर देता है जैसे यत्न से पाला हुआ वह हाथी जो पागल हो जाता है।"

वर्षकार व्यग्र होकर बोला—धर्म? जो शासन करना चाहता है उसे सब से पहले धर्म से दूर भागना चाहिये। दयावान कसाई और धर्मशील शासक नष्ट हो जाता है आचार्य! अब तो मैंने सन्यास ग्रहण कर लिया है—मैं तत्व-चिन्तन करता हूं—अर्थ-चिन्तन नहीं।"

धर्मेश्वर बोला—"शीलहीन राजनीति को मैं 'पागल के हाथ की तलवार' मानता हूं। पता नहीं उस तलवार का वार कब किस पर हो जाय।"

वर्षकार ने कोई उत्तर नहीं दिया। धर्मेश्वर रथ पर बैठ कर परिषद् की बैठक में चला गया। सात हजार सात-सौ-सात राजन् परिषद् में उपस्थित थे। देव-परिषद् की तरह वह परिषद् गौरव-मंडित थी। सर्वत्र शान्ति थी, सभी चुप थे। विशाल परिषद् भवन इस छोर से उस छोर तक भरा था। वैशाली वाले बराबर अपनी परिषद् बुलाते रहते थे और जो कुछ निर्णय करते थे वह सर्व-सम्मति से। वहां का निर्णय ठोस और सजीव होता था तथा जनता उसे धर्म-वाक्य की तरह बिना दबाव के उल्लासपूर्वक, सादर मान लेती थी। परिषद् का निर्णय ईश्वर का निर्णय माना जाता था।

धर्मेश्वर वर्षकार को बहुत ही आदरपूर्वक परिषद् में ले गया था क्योंकि वह एक महान राज्य का महामंत्री रह चुका था तथा प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ माना जाता था। वर्षकार ने गहराई से परिषद् की एक-एक

बात का अध्ययन किया—उसे कहीं भी दरार नजर नहीं आई जहाँ से वह अपना विष डाल सके। नियमों की बनावट इतनी ठोस और दृढ़ थी कि वर्षकार निराश हो गया – उसने जो योजना बनाई थी उसका हल्कापन उसके सामने स्पष्ट हो गया। वैशाली गणतंत्र पर प्रहार करने के लिये उसने जिन अस्त्रों को चुना था वे काफी कमजोर प्रमाणित हुए और वर्षकार को फिर से अस्त्रों का चुनाव करने को बाध्य होना पड़ा। वर्षकार के अस्त्र जरूर मजबूत थे, किन्तु वैशाली गणतंत्र की दीवारों की मजबूती ने उन्हें बेकार प्रमाणित कर दिया था। निश्चय ही वर्षकार वैशाली गणतंत्र को जिस रूप में जानता था वह उससे भिन्न प्रकार का था। वर्षकार की धारणा थी कि गणतन्त्र बालू की भीत से अधिक स्थायी नहीं हो सकता, किन्तु जब उसने उसे नजदीक से देखा तो वह पत्थर की कठोर दीवार से भी अधिक कठोर और ठोस निकला। वर्षकार पर, उसके दिल और दिमाग पर गणतन्त्र की विशेषता का जोरदार असर पड़ा, उसे ऐसा लगा कि वह एक अच्छी चीज को नष्ट करने का जघन्य पाप कमा रहा है।

वर्षकार ने ध्यान से परिषद् की कार्यवाही को देखा और उसे त्रुटिहीन पाया। कहीं किसी तरह का भी दोष न था, वह घबरा उठा। वर्षकार को विश्वास हो गया कि वह वैशाली गणतंत्र को नष्ट करने का यदि प्रयत्न भी करे और सफल भी हो, तो इसके लिये दस-बीस साल का समय भी कम है। उस वृद्ध ब्राह्मण को अपनी ढलती उम्र का बड़ा दुःख हुआ—वह बीस साल जीवित भी नहीं रह सकता।

वर्षकार मानव-मनोविज्ञान का पंडित था। वह जानता था कि मानव के भीतर की बनावट में—उसके संस्कार और स्वभाव में कहाँ-कहाँ दोष हैं, कहाँ-कहाँ दुर्बलता है। यही उसकी आशा का केन्द्र था। वह राजनीति का पंडित तो था ही, राजनीति के अस्त्र का संचालन किस मौके पर और कैसे किया जाता है, इसका भी भ्रान्ति रहित ज्ञान उसे था। वह शान्त-चित्त से परिस्थिति का अध्ययन करने लगा और तत्काल

ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक ही वर्ग के सात हजार सात-सौ-सात 'राजन्' पूरे गणतंत्र का उपभोग करते हैं. यद्यपि बीसों वर्गों का निवास पूरे गणतंत्र में है यदि निम्नवर्गों को उभारा जाय तो घराऊ कलह का सूत्रपात हो सकता है। छोटे-छोटे वर्ग यद्यपि सन्तुष्ट हैं किन्तु उनमें महत्वाकांक्षा जगा कर उनके भीतर असंतोष की आग भड़काई जा सकती है। छोटे-छोटे वर्गों को उभाड़ना बिल्कुल ही आसान है। छोटे वर्ग प्रायः अतृप्त रहते हैं और अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति उनके हृदय में दबा हुआ असंतोष भी तो होता ही है।

वर्षकार इन्हीं बातों पर सोचता-विचारता रहा उसने धर्मेश्वर से पूछा—"आपके यहाँ गरीब मजदूर हैं, गरीब कारीगर हैं—कुम्हार, बढ़ई, रथकार आदि। यह क्यों ?"

धर्मेश्वर बोला—"यदि हम कुम्हार को रहने के लिये महल दे दें और मद्य-मांस-नृत्य-संगीत आदि की सुविधायें प्रदान कर दें, मुलायम बिछावन पर लेट कर वह सुस्वादु भोजन दिन में तीन-तीन बार करे, तो यह मान लो कि वह चाक चलाना कभी भी पसन्द नहीं करेगा।"

वर्षकार बोला—"क्यों, वह सुखी रह कर और भी काम करेगा।"

"नहीं करेगा"—धर्मेश्वर ने कहा—"हम उसके सामने हाथ जोड़ कर खड़े हों और विनय कर कि राष्ट्र के लिए आप बर्तन गढ़ दो, तो वह हमारी विनती को सुनेगा क्या ! एक बात और है—कला में कुशलता वंशानुक्रम से विकसित होती है। खानदानी कुम्हार ही कुशल कुम्हार हो सकता है। हम यदि कल से चाक चलाना आरम्भ कर दें तो क्या वैसी विशेषता प्राप्त कर सकते हैं जैसी विशेषता खानदानी कुम्हार अनायास ही प्राप्त कर लेता है ?"

वर्षकार को कोई उत्तर नहीं सूझा। वह बोला—"कुछ भी हो जब आप के यहाँ गणतन्त्र है तो यह सोचने की बात हो सकती है कि कुछ लोग तो बहुत ऊपर हों और कुछ लोग या कुछ वर्ग नीचे।"

धर्मेश्वर मुस्करा कर बोला—"भीतर से सन्तुलन ठीक है। बाहर

का पार्थक्य तो रहेगा ही और रहना भी चाहिये। यदि शरीर का प्रत्येक अंग कहे कि हम मस्तक ही बनेंगे तो फिर शरीर की बनावट में पूर्णता आ सकेगी ? १०-१२ सिर तो हो जायेंगे किन्तु हाथ, पैर, नाक, कान एक भी नहीं होगा। समाज एक विराट् शरीर है और इस शरीर में भी सभी अंग—उपांग हैं, हम केवल यही सोचते हैं कि समाज का प्रत्येक अंग मजबूत और अधिक से अधिक क्रियाशील हो।"

वर्षकार का मुँह बन्द हो गया किन्तु उसका शैतान मस्तिष्क चारों तरफ घूम रहा था। उसने फिर सवाल किया—"यह गणतन्त्र क्या है ?"

धर्मेश्वर ने हँस कर कहा—"आप का शुभ नाम श्री वर्षकार है न ?"

वर्षकार ने अपनी सहमति जताई तो धर्मेश्वर बोलने लगा—"मगर मैं तो वर्षकार को कहीं नहीं देखता। आपके हाथ, पैर, नाक, कान। आदि अवयवों को ही देखता हूँ। वर्षकार कहाँ है ?"

धर्मेश्वर ने सरल भाव से पूछा—"बतलाइये कि वर्षकार कहाँ है, कौन है ?"

धर्मेश्वर ने कहा—"इन अवयवों का धारण करने वाला जो अवयवी है वह वर्षकार के नाम से परिचित होता है। इसी तरह राज्य में—हमारे राज्य में बहुत से अवयव हैं। उन अवयवों का अवयवी 'गणतन्त्र' के नाम से परिचित होता है। इन अवयवों का धारण करने वाले अवयवी का नाम 'गणतन्त्र' है।"

वर्षकार बोला—"गणतन्त्र एक प्रकार की शासन-प्रणाली का नाम भी हो सकता है ?"

"आप ऐसा ही समझें"—धर्मेश्वर ने कहा—"मैं इसे प्रणाली नहीं, शासन अवयव का अवयवी मानता हूँ। आप और गहराई से इस पर विचार करें। साम्राज्यवादी बुद्धि से सोचना बन्द कर दें।"

निराश वर्षकार का हृदय घबरा उठा। वह अब न तो राजगृह

लौटने की स्थिति में था और न वैशाली में ही टिक सकता था। उसके गुप्तचर आते थे और आदेश ले जाते थे। वर्षकार शान्ति और सजगता-पूर्वक अपनी योजना को आगे बढ़ाना चाहता था क्योंकि किसी विशाल वृक्ष की एक-एक डाल को काट डालने के बाद ही जड़ पर कुठाराघात किया जा सकता है। वर्षकार ने सोच लिया कि—"जल्दबाजी का परिणाम भयानक हो सकता है। जनता के भीतर प्रवेश करने के लिए धारणा और सतत प्रयत्न की आवश्यकता है। जोर लगा कर, धक्के मार कर यदि जनता के भीतर—उसके अन्तर में प्रवेश करने की मूर्खता की गई तो योजना का अन्त तो होगा ही प्राणों का अन्त भी हो जाना बहुत सम्भव है। विष दे कर उसके असर तक रुकना पड़ता है। वर्षकार ने धर्मेश्वर को हटाने का दृढ संकल्प कर लिया।

शैतान की माया

भक्त भक्ति-विह्वल हो कर यह कहते हैं कि—"हे दयामय, यह विश्व तुम्हारी माया है।"

भक्तों की यह उक्ति दूसरे क्षेत्रो मे भले ही लागू हो किन्तु राजनीति में ईश्वर की माया को कोई स्थान नहीं है— यदि यहाँ किसी की माया है तो वह शैतान की माया है। इस धरती पर दो समानान्तर सरकारें कायम हैं—एक सरकार है ईश्वर की, और दूसरी सरकार है शैतान की—शैतान की सरकार के समर्थक ईश्वर की सरकार के अस्तित्व को ही गलत प्रमाणित करने मे लगे रहते हैं—वे सफल भी होते हैं। जहाँ मानव पर मानव की हुकूमत करने की बात आती है वहाँ 'शैतान की सरकार' होती है, और जहाँ मानवता की सेवा करने की भावना होती है वहाँ ईश्वर की सरकार होती है। युग युग से दोनों सरकारें धरती पर कायम हैं और दोनों ने अपना-अपना असर फैलाना चाहा—जो उचित भी है। शैतान की सरकार का मुख्य संचालक वर्षकार ईश्वर की सरकार के सब से नम्रसेवक धर्मेश्वर की छाती पर बैठ कर सोचने लगा कि कैसे शैतान की सरकार की स्थापना ईश्वर की सरकार का गला घोंट कर हो। वर्षकार ने जातीयतावाद का सहारा लिया और वैशाली के ब्राह्मणों के प्रधानों से उसने गुप्तरूप से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। वैशाली

गणतंत्र के रक्षक सात हजार सात-सौ व्यक्ति 'राजन्' अर्थात् क्षत्रिय ही थे। इन में एक भी ब्राह्मण न था—केवल मुख्यामात्य भट्टिनर ब्राह्मण था, वह भी जाति की वजह से नहीं, अपने पांडित्य और चरित्र बल के कारण। वर्षकार ने कहा—यह अन्याय है। एक वर्ग सदा शासक बना रहे और बाकी वर्ग उसके जूते चाट कर किसी न किसी तरह जीवन-यापन करते रहें। बौद्धों ने ब्राह्मणों को सदा के लिये मिटा देने का ही प्रयास किया है। वर्षकार ने यह पता लगा लिया कि वैशाली गणतंत्र में सब से अधिक असन्तुष्ट ब्राह्मण वर्ग है, क्योंकि यह वर्ग पदच्युत कर दिया गया है। किसी भी गणतन्त्र में किसी जाति-विशेष पर विशेष ध्यान देना गणतंत्र के लिये खतरा है—यह सबके लिये है, सब का है। जो अन्याय पूर्वक ऊपर उठा है उसे नीचे उतरना होगा, और जो नीचे गिरा हुआ है या गिरा दिया गया है, उसे ऊपर उठना पड़ेगा। गणतंत्र जीवन का एक स्तर कायम करना है और वह स्तर समानता का होता है। वैशाली गणतंत्र में भी यही बात थी और बेहद ऊपर चढ़े ब्राह्मणों को नीचे उतर कर उस स्थान पर आना पड़ा था, जिसे गणतंत्र के नेताओं ने बहुत सोच विचार के बाद स्थिर किया था। ब्राह्मण ऐसा नहीं चाहते थे और वर्षकार को यही कुँजी हाथ लगी दुर्भाग्य के ताले को खोलने के लिये!!!

वैशाली गणतन्त्र के ब्राह्मण विभिन्न पेशों में लग कर यद्यपि सुखी-सम्पन्न थे किन्तु उनका हृदय तुष्ट न था—वे अपनी पूर्व स्थिति को फिर से प्राप्त करना चाहते थे, भले ही उन्हें भूखों मरना या भीख मांगना पड़े। ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम चुन लिया था—यह बात केवल वैशाली में ही नहीं पूरे भारत में थी*।

वर्षकार अपने गुणों के बल पर वैशाली में अपना जाल फैला नहीं सकता था—उसे तो दोषों का आश्रय ग्रहण कर के ही यहाँ अपना काम करना था। मन लगा कर वर्षकार वैशाली-गणतंत्र के शरीर पर

*देखिये—डा० राधाकुमुद मुकर्जी लिखित "हिन्दू सिविलिजेशन"।

जख्म खोजता रहता था। यदि जख्म नहीं भी होता तो भी कहीं न कहीं उसे जख्म पैदा करना ही था। पक्का कूटनीतिज्ञ किसी परिस्थिति को जिस से वह लाभ उठा सकता हो पैदा होने की प्रतीक्षा नहीं करता। वह अपनी कूट-बुद्धि से परिस्थिति पैदा कर देता है. उससे लाभ उठाता है और फिर उसका अन्त कर देता है। यह तो कच्चे खिलाड़ी का काम है जो अपने ही द्वारा पैदा की हुई परिस्थिति में स्वयं फँस जाय। पक्का खिलाड़ी कभी भी अपने द्वारा पैदा की हुई परिस्थिति को इतना बलवान् नहीं होने देता कि वह उसकी सभाल से बाहर हो जाय। वर्षकार इस तत्व को समझता था। उसने मगध मे गुप्तचर भेज कर देवदत्त के प्रधान सहायक कुर्मायन को बुलवा लिया—देवदत्त को नहीं बुलाया क्योंकि वह एक विख्यात पुरुष था, सभी उसे जानते-पहचानते थे, किन्तु कुर्मायन अत्यन्त तीव्र बुद्धि का होने पर भी उतना विख्यात नहीं था। तीर्थंधर भी अपने कुछ साथियो के साथ कुर्मायन के साथ चुपके से चला आया। वर्षकार यह सारा षड्यन्त्र धर्मेश्वर की छाती पर बैठ कर ही कर रहा था। सरल हृदय धर्मेश्वर का ध्यान इस विष-बेल की ओर न था जो फैलती जा रही थी। वह ईश्वर की माया का कायल था, अत शैतान की माया का पता उसे अन्त तक नहीं चल सका।

वर्षकार ने वैशाली से ७-८ कोस दूर एक गहन वन मे वैशाली के कुछ प्रमुख ब्राह्मणो को बुलाया और स्वयं भी वहाँ पहुँचा। सात-आठ करोड़पति विद्वान् ब्राह्मण-मुखिया वहाँ एकत्र हुए थे। वर्षकार का नाम उन्होंने सुन रखा था, वे उसका आदर भी करते थे क्योंकि वर्षकार मगध राज्य का मुख्यामात्य था और साथ ही वृद्ध तथा विद्वान् ब्राह्मण भी था। वे ब्राह्मण थे तो करोड़पति किन्तु उनके मन के भीतर यह बात काँटे की तरह चुभा करती थी कि उन्हे पदच्युत कर दिया गया है तथा क्षत्रिय वर्ग उन पर स्थायी रूप से शासन कर रहा है। सात हज़ार सात-सौ-सात 'राजन्' मे से एक भी ब्राह्मण वर्ग का न था। यह परिताप की बात थी। वर्षकार ने उन्हें समझाया कि— बुद्धदेव का आशीर्वाद

इस राज्य को प्राप्त है और यह बौद्ध-राज्य है। उन्हीं के नाते-रिश्तेदार राजन् बन कर शासन कर रहे हैं। यह लोकतन्त्र, यह गणतंत्र लुटेरों का एक सगठन मात्र है जो गुण को नहीं, संख्या को महत्व देता है। आप जानते हैं कि संसार मे पिछड़े हुए व्यक्ति ही अधिक सख्या मे हैं, आपके राज्य में भी ऐसे ही लोगों की प्रधानता है। यह मूर्खों की भीड़ का शासन है— कुछ धूर्त व्यक्ति मूर्खों के मत का उपयोग अपने हक मे करते हैं। गुणवान् होते हैं उनकी कोई प्रतिष्ठा आपके राज्य मे नहीं है क्योंकि वे अल्पमत मे हैं। यह शासन मे बुद्धि और तेजस्विता को नष्ट कर देने का गुण है, क्योकि आप पर शासन करने वाले यह कभी नहीं चाहेंगे कि दूसरे लोग भी बुद्धिमान् और तेजस्वी बनें और उनके मुकाबले में ताल ठोक कर खड़े हो जाएं। गणतंत्र के नेता सदा इस प्रयत्न मे लगे रहते हैं कि देश मे अनाचार व्यभिचार और मूर्खता बनी रहे। कारण स्पष्ट है कि जब पतितो का देश में बहुमत रहेगा तो उन्हें अपनी सरकार कायम रखने में बल मिलता रहेगा। विद्वान् और तेजस्वी पुरुषों पर शासन किया ही नहीं जा सकता—भेड़ों की तरह ढोर को हांका नहीं जा सकता।

वर्षकार ने उन्हें समझाया कि तुम्हारे शासन मे दल-प्रणाली है और गणतंत्र में दल-प्रणाली की गंदी बुराइयाँ खूब पनपती हैं। राजनीतिक दलों में चोरी, बेईमानी, लूट, खून सब कुछ पाप होते हैं और ऊपर वाले अपने-अपने दल के पापों को चुपचाप पचाते जाते हैं। क्या यह बात सही नहीं है?

सभी ब्राह्मण चौंक उठे और वर्षकार के शान्त गम्भीर चेहरे की ओर श्रद्धा भरी आँखों से देखने लगे। जब वे कुर्मायन की प्रेरणा से उस गहन वन में वर्षकार से मुलाकात करने गुप्तरूप से आये थे तो उनके चेहरे पर अविश्वास और भय के भाव स्पष्टतापूर्वक थे, किन्तु वर्षकार की बातों ने उनके भीतर तूफान पैदा कर दिया—वे मानो सोते से जाग उठे। वृद्ध ब्राह्मणों में एक था कर्दम। कर्दम बहुत घनी और घोर

विद्वान् था। उसने पूछा—"तो हमें क्या करना चाहिये ?"

वर्षकार कहने लगा "गणतन्त्र में भारी अचलता पैदा हो जाती है। सभी काम शासक-वर्ग समेट लेता है और जनता को केवल 'मतदान' के लिये छोड़ देता है। शासक से सम्बन्ध रखने वाला एक भी काम ऐसा नहीं होता जिसे आपके शासक या उनके भाई-भतीजे के अतिरिक्त दूसरा कोई करता हो। आपको तो अपने उद्धार का प्रयत्न करना चाहिये— आप सहसा कुछ न करें, सोच लें।"

निश्चय ही वे चले तो गये किन्तु उनके सोचने-विचारने का धरातल एकदम बदल गया। जिस गणतन्त्र को उन्होंने सदा से अपना समझा था, उसे वे अपने और वर्ग के लिये कसाई-खाना समझने लगे। आप एक सुन्दरी स्त्री की कल्पना कीजिये। फिर कल्पना कीजिये कि उसके शरीर पर की चमड़ी मांस रक्त सब कुछ गायब हो गया—बचा डरावना कंकाल, हड्डियों का कंकाल ! उस सुन्दरी नारी-मूर्ति और इस कंकाल में कितना भयानक अन्तर है, यह तो स्पष्ट है। ठीक इसी तरह वर्षकार के जादू के जोर से उन वृद्ध ब्राह्मणों की दृष्टि से गणतंत्र की चमड़ी के साथ-साथ रक्त, मज्जा, मांस सब कुछ गायब हो गया—अब उनके सामने था एक विशाल डरावना कंकाल, जो किसी आदिम युग के राक्षस का ढाँचा-सा दिखलाई पड़ रहा था। दृष्टिकोण बदल जाने से सारी बातें उलटी हो गईं। एक सिद्ध कूटनीतिज्ञ अपना मतलब गाठने के लिए जनता का या जिनसे काम निकालना होता है उनका, दृष्टिकोण बदल देता है—एक क्षण पहले हम जिसे अमृत-फल समझ रहे थे वह विष-फल के रूप में बदल जाता है और इस परिवर्तन के साथ ही उस फल के प्रति जो हमारा कर्त्तव्य होता है वह भी बदल जाता है।

वैशाली गणतंत्र के प्रति उन वृद्ध ब्राह्मण नेताओं का जो कर्त्तव्य था और जिसका पालन वे श्रद्धापूर्वक करते आ रहे थे, वर्षकार के समझाने के बाद बदल गया। वे गणतंत्र के साधक बन कर वर्षकार के

निकट आये थे किन्तु लौटे 'बाधक' बन कर—मित्र थे पर शत्रु बन कर अपने-अपने घर में वे लौट गये। शैतान की माया का यह प्रथम पट-परिवर्तन विष-वपन के रूप में हुआ। अभी तो खेती लहराने में देर थी ही!

कर्म का फल अक्षय होता है—वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, शुभ हो या अशुभ, साधक हो या बाधक, यह दूसरी बात है।

एक-एक दिन करके एक मास बीता। अब वर्षकार के माया-जाल का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। कुर्मायन स्वयं तो आया ही, वह अपने ही जैसे पचास-सौ भिक्षु और बटोर लाया। ये भिक्षु वैशाली के बाजारों और गाँवों में बिखर गये और भिक्षा माँगने लगे—पहले से वहाँ सैकड़ों क्या हजारों भिक्षु थे, जिन का अत्यधिक आदर और सम्मान था और वे इस के पात्र थे। वे त्यागी, तपस्वी और धर्मप्राण थे तथा जनता पूर्ण श्रद्धा से उन के सुख की चिन्ता करती थी। ये नये भिक्षु भी उन पुराने भिक्षुओं के साथ मिल गये—केवल कुर्मायन अलग-अलग अपने दल का संचालन करता रहा। यह एक अजीब षडयन्त्र था। कुर्मायन के दल के दो-तीन सौ भिक्षु और आ गये। वे विभिन्न मार्गों से दो-दो, चार-चार का गिरोह बना कर आते रहे। किसी ने यह ध्यान भी नहीं दिया कि ये भिक्षु कौन हैं और कहाँ से आये। एक दिन कुर्मायन ने नगर से दूर—वन की एकान्त गोद में कुछ मुख्य भिक्षुओं को बुलाकर कहा—"अब समय आ गया है जब हम अपना काम शुरू कर देना चाहिये। तुम सब मिल कर मत रहो। यह कोई नहीं जानता कि तुम बुद्ध के दल के हो या उससे अलग। तुम में से कुछ शराब पी कर सड़कों पर गालियाँ बको, आपस में झगड़े करो वेश्यालयों में जा कर रात भर रहो और कुछ जुआ और इसी तरह कुकर्म आरम्भ कर दो।"

एक भिक्षु ने पूछा—"इस से लाभ क्या होगा।"

कुर्मायन बोला—"अरे लाला, लाभ-हानि की बात मैं जानता हूँ, तुम जान कर क्या करोगे?"

सभी चुप रहे। बात यह थी कि उन भिक्षुओं में से एक भी भिक्षु न था। चीवर पहना कर और सिर मूँड कर मगध के आवारो, छिछोरो और गुण्डो को ही कुर्मायिन ले आया था। कुर्मायिन को वर्षकार के गुप्तचर धन देते थे मुंह माँगा धन !

यह तमाशा शुरू हो गया। जहाँ-तहाँ भिक्षु अनाचार करते दिखलाई पडने लगे। जनता के मन मे चीवर धारी भिक्षुओं के प्रति जो श्रद्धा थी वह कपूर की तरह गायब होने लगी। जनमत भिक्षुओं से घृणा कर उठा। शराबखानो, वेश्यालयो और दूसरे तरह के पापागारो मे भिक्षु चीवर पहने नजर जब आते, तो जनता उन्हे घेर लेती और उन पर थूकती जिस की चिन्ता उन छद्‌म-भिक्षुओं को न थी क्योंकि वे इसी काम के लिए आये थे।

जनता गहराई से नही सोचती — तुरन्त ही फैसला कर डालती है वैशाली की शान्त तथा चरित्रवान जनता ने भिक्षुओं के खिलाफ फैसला कर लिया भिक्षुओं को माँगे भीख न मिलने लगी। जो शुद्ध भिक्षु विहारो में रह कर तपस्या करते, शील आदि में लगे रहते थे और लोक-कल्याण के लिए तत्पर रहते थे, वे भी जनता की घृणा के शिकार बन बैठे। गुप्तचरों के बहकाने पर एक भीड़ ने विहारों पर आक्रमण भी कर दिया, गुप्तचरो ने ही दूसरी भीड़ को बहका कर विहारो की रक्षा के लिए तत्पर कर दिया—परिणाम यह हुआ कि वैशाली वाले आपस मे लड गये। भयानक दगा हो गया और खुल कर अस्त्रों का प्रयोग दोनो ओर से हुआ—शताधिक व्यक्ति मरे और आहत हुए। यह समाचार जब वर्षकार को मिला तो वह आनन्द विभोर होकर बोला—"अब सम्भालो अपने 'गणतन्त्र' को, तो देखूं !"

वैशाली में स्पष्ट दो दल नजर आने लगे—एक दल भिक्षुओं का समर्थक, दूसरा विरोधी। विरोधी दल का समर्थन वहाँ के वे धनी-मानी ब्राह्मण करते थे जिन्हे वर्षकार ने उलटा पाठ पढ़ा कर विद्रोही बना दिया था। जगह-जगह दगे आरम्भ हुए। आरक्षी दल सक्रिय हो गया,

परिषद् की आवश्यक बैठक बुलाई गई किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। परिषद् के सदस्यों में भी कुछ ऐसे भी थे जो बौद्धों का हृदय से समर्थन नहीं करते थे, उन्होंने विरोधी विचार प्रकट किये और तू-तू, मैं-मैं, तथा भारी शोर-गुल के साथ परिषद् की बैठक समाप्त हो गई। वैशाली के इतिहास में यह नई बात थी। धर्मेश्वर परिषद् समाप्त हो जाने के बाद भी अपने आसन पर बैठा रहा और सिर झुका कर रोता रहा किन्तु उसके आंसुओं का मान घट गया था। वह रोया और बेकार अपने संचित आंसुओं को बहा कर चुपचाप कुटिया की ओर पैदल ही चल पड़ा। महामन्त्री के पीछे-पीछे उस का रथ चल रहा था—सारथी में इतना साहस न था कि वह महामन्त्री को रोक कर रथ पर बैठने का आग्रह करे। हारे हुए जुआरी की तरह धर्मेश्वर राजनीती के किनारे-किनारे चल रहा था। वह नहीं जानता था कि उस के पैर उसे किस ओर लिए जा रहे हैं। यदि उस के पैर अपने पूर्व अभ्यास का परिचय नहीं देते तो न जाने वृद्ध महामन्त्री उस निर्जन में आधी रात को किस ओर पहुँच जाता।

धर्मेश्वर अपनी कुटिया में पहुँचा तो उसने वर्षकार को ध्यानस्थ पाया। वर्षकार जानता था कि इतनी देर के बाद धर्मेश्वर लौटता है—ठीक समय के कुछ पहले वह बगले की तरह ध्यान लगा कर बैठ जाता था—मायावी बहुत ही सतर्क होता है। सच्चा और ईमानदार व्यक्ति ही प्राय: धोखा खा जाता है, बेईमान और मायावी व्यक्ति प्रत्येक कदम सौ बार सोच कर उठाता है, क्योंकि उसे खतरे का भय सताता रहता है। वह जानता है कि उसकी एक बार की गलती भी उसका नाश कर डालेगी।

धर्मेश्वर चुपचाप अपने आसन पर आया और कराह कर बैठ गया। अब तक उसकी आँखों से रह-रह कर आंसू की बूँदें ढुलक पड़ती थी। उस निर्जन रात में उसकी मनोव्यथा को देखने वाला कौन था, उसके अन्तर में स्थित भगवान् को छोड़ कर। वर्षकार के सजग कान धर्मेश्वर

के उसासो की गम्भीर ध्वनि सुन लेते थे और वर्षकार का मन पुलकित हो जाता था। वह जानता था कि वैशाली की परिषद् में जरूर ही विद्रोह की आग भड़केगी। उसका अनुमान सही निकला। वर्षकार रात भर ध्यानस्थ बैठा रहा और अपने आसन पर सारी रात बैठा धर्मेश्वर रोता रहा। वह अपने मन को जितना भी समझाता था, उसकी विकलता बढ़ती जाती थी। वह लाख प्रयत्न करके भी यह समझ नही पाता था कि यह सब क्या हो रहा है, कैसे देखते-देखते दुनिया बदल गई। वैशाली का कुरूप भविष्य धर्मेश्वर की आँखों के सामने झलक रहा था। वह जानता था कि इस अनुशासनहीनता का अन्त किस रूप में होगा किन्तु उसका दिमाग काम कही कर रहा था। दगे, जनता मे फूट, परिषद् मे अनुशासनहीनता, क्रोधपूर्ण भाषण तथा सदस्यों मे खूनी मतभेद, इन सारी बातो को धर्मेश्वर देख-देख कर क्षीण होता जा रहा था। वह खोज कर भी कारण को पकड नही पाता था यद्यपि उसे विश्वास हो गया था कि इन सारी बुरी बातो की जड बहुत गहराई मे है पर किधर है, कहाँ है—यह उसे कौन बतलावे।

वर्षकार धर्म और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा प्रायः करता था। राजनीति की बातो से वह भागता था। पक्का कूटनीतिज्ञ जब सक्रिय हो जाता है तब वह अपनी सारी वृत्तियों को अपने भीतर समेट कर ऐसा बन जाता है कि देखने वाले को जरा भी सन्देह न हो। सभी उसे भोला-भाला और मासूम समझें। वह अपनी वाणी पर कठोरता से शासन करने लगता है तथा मतलब की बात कभी भी मुँह से नही निकलने देता। इस कला मे वर्षकार दक्ष था। जब से वैशाली मे चिन्तनीय दुर्घटनायें शुरु हुईं वर्षकार का बोलना और बाहर आना-जाना बन्द हो गया। वह धार्मिक ग्रन्थो को पढाता और ध्यान लगाता या समाधि का अभ्यास करता। वर्षकार की उदासीनता इतनी बढ गई कि धर्मेश्वर का भी ध्यान कभी उसकी ओर नहीं जाता। वर्षकार ने अपने आपको अपने मे अच्छी तरह समेट लिया था—उसका शरीर भर ही

बाहर था किन्तु वह जरा-सा भी बाहर नहीं झांकता था। इस उपाय से उसने धर्मेश्वर के दिमाग पर से अपने अस्तित्व के दबाव को इतना कम कर दिया था कि चिन्ता-व्यस्त धर्मेश्वर को शायद ही कभी याद आता था कि महान् मगध साम्राज्य का विख्यात राजनीतिज्ञ महामात्य शरणार्थी बन कर उसकी कुटिया में पड़ा है।

यह एक मनोवैज्ञानिक चमत्कार था जिसका प्रयोग वर्षकार ने बहुत ही सफलतापूर्वक अपने हित में किया था।

वर्षकार शैतान की माया का विस्तार चुप रह कर इशारे से करता जाता था और नित्य एक न एक दुश्चिन्ता वैशाली साम्राज्य के लिए जन्म लेती जाती थी। राज्य के संगठन की एक न एक कड़ी प्रत्येक दुर्घटना के भार से टूट जाती थी।

पीठ में छुरा

नीचता और अमानुषिकता की पराकाष्ठा है पीठ मे छुरा भोक देना। यह पतित-कर्म कही पुण्य-कर्म भी बन सकता है, ऐसी कल्पना भला आदमी नही कर सकता, वह भला आदमी यदि राजनीति का खिलाड़ी न हो तो ! राजनीति मे छुरा भोक देना पुण्य-कर्म है और इस पुण्य कर्म का सम्पादन करने वाला प्रशसा तथा यश का पात्र माना जाता है। निन्दा उसी की होती है जो इसकी निन्दा करने का अपराध करता है।

एक दिन वैशाली में यह बात फैल गई कि कुछ भिक्षु अपने चीवर का त्याग जनता के सामने करेंगे और बतलाएँगे कि वे प्रव्रज्या लेकर भी भिक्षु-पद का त्याग क्यो कर रहे हैं। निश्चित स्थान पर सभी वर्ग की अपरिमित भीड उमड़ पड़ी। सभी वर्ग के लोग आये। रंग-बिरंगे रथों और दूसरे प्रकार के वाहनों की रेल-पेल हो गई। सब का ध्यान ऊँचे मंच की ओर था जो अभी खाली पड़ा था।

समय बीतने लगा और जनता की उत्सुकता बेचैनी का रूप धारण करने लगी। सभी दम साधे मंच की ओर देख रहे थे। कुछ देर के बाद अत्यन्त गम्भीर और शान्त मुद्रा में एक के पीछे एक चलते हुए पचास-साठ भिक्षु मंच पर पधारे। सब के आगे कुर्मायन था। उनके चीवर पर

सूर्य का प्रकाश पड़ कर आस-पास के वातावरण को चीवर के रंग से सराबोर कर रहा था। वे भिक्षु धीरे-धीरे आकर एक कतार में मंच के अन्तिम छोर पर खड़े हो गये। बीच में कुर्मायन था। उसने पहले हाथ जोड़ कर और सिर झुका कर जनता का अभिवादन किया और फिर स्पष्ट स्वर में बोलना शुरू कर दिया। उसकी आवाज विषाद-पूर्ण थी जैसे अपने मन की अथाह व्यथा को वह प्रकट करने में असमर्थ हो रहा था—कभी-कभी उसका कंठ रुँध जाता था। भीतर के जोरदार उच्छ्वासों के वेग को वह मानो सँभाल नहीं पाता था। उसने कहना आरंभ किया—"मित्रो, हम सभी ब्राह्मण-कुलोद्भव हैं। हमारे पूर्वज ऋषि और वेदज्ञ विद्वान थे तथा उन्होंने अपनी तपस्या और अपने श्रेष्ठ आचार के कारण धरती पर सम्मान और स्वर्ग में उत्तम स्थान पाया। मैंने भी वेदों और उसके अंगों का अध्ययन तक्षशिला में बीस साल रह कर किया। वेदों के रहस्यों का ज्ञान मैंने आचार्य की सेवा करके प्राप्त किया। गौतम की कीर्ति तक्षशिला की दीवारों को पार करके भीतर घुसी। मैं अपने को रोक नहीं सका और करोड़ों की सम्पत्ति, वृद्ध—पिता माता और पुरजन-परिजन का त्याग कर मोक्ष-मार्ग का पथिक बन गया!"

कुर्मायन ने चारों ओर निगाह डाल कर अपने भाषण के प्रभाव को देखा। जनता शान्त और चुप बैठी रही। वह मानो प्रत्येक शब्द सुनना चाहती थी और समझना चाहती थी। कुर्मायन ने देखा कि वैशाली के बहुत से मंत्री और परिषद-सदस्य भी उपस्थित हैं तथा राज्य के दूसरे उच्च अधिकारी भी बैठे हैं। वह कुछ देर चुप रहा और फिर बोलने लगा—"तथागत का मैं आज भी आदर करता हूँ किन्तु उनकी कुछ बातों ने मेरे हृदय को कुचल दिया।"

जनता में दबी हुई भनभनाहट फैल गई। मधुमक्खियों के छत्ते में से जिस तरह की भनभनाहट प्रकट होती है उसी तरह की भनभनाहट उस हजारों की भीड़ में से प्रकट हुई। कुर्मायन रुआँसा-सा मुँह बना

कर बोला—"यदि मैं अपने शास्ता की मिथ्या करूँगा तो मेरी जीभ कट कर यहीं गिर जायगी। गुरु की निन्दा करने वाले पापी को नरक में भी स्थान नहीं मिलता किन्तु मैं सत्य-पूत वाणी का ही व्यवहार करूँगा। आप जनता-जनार्दन और आपके सामने सदा तथ्य और सत्य ही प्रकट करना चाहिये।"

कुर्मायन के इस तीर ने अच्छा काम किया। गुरु की निन्दा करने से जीभ कट कर गिर जाने वाली बात ने जोरदार असर पैदा किया। श्रद्धालु जनता गद्गद् हो गई।। कुर्मायन कहने लगा—"अभी कुछ दिनों की बात है कि मेरे शास्ता ने अम्बष्ठ* माणवक से कहा था कि—"ब्राह्मण हीन है और क्षत्रिय श्रेष्ठ। यदि क्षत्रिय किसी ब्राह्मणी से हमवास करे और ब्राह्मणी के गर्भ रह जाय, बच्चा भी पैदा हो तो बच्चे को ब्राह्मण समाज सादर स्वीकार कर लेगा क्योंकि उसके शरीर में ब्राह्मण-वर्ण से श्रेष्ठ वर्ण का वीर्य है अर्थात् क्षत्रिय वर्ग का। यह कितनी भयानक बात है।

मैंने बराबर शास्ता से निवेदन किया कि—"आपके इस मत से वर्ग-विद्वेष फैलेगा और राष्ट्र की एकता नष्ट हो जायगी किन्तु मेरे निवेदन का फल यह हुआ कि मुझे तथा दूसरे ब्राह्मण-भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया गया।

जब-जब बुद्धदेव की चर्चा आती थी कुर्मायन हाथ जोड़ कर आदर से सिर झुका लिया करता था। बुद्धदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा और सम्मान के भाव प्रकट करने के कारण जो श्रोता थे उनके हृदय मे कुर्मायन के प्रति श्रद्धा के भाव प्रकट हो गये।

कुर्मायन खड़ा-खड़ा रोने लगा और रोदन मिश्रित स्वर में बोला—"अब मेरे लिए यह उचित हो गया कि मैं चीवर का त्याग कर दूँ। कोई दूसरा रास्ता ही नही रह गया। पहली बात तो यह है कि मैं वर्ग

*देखिये—"अम्बष्ठ-सुत्त।"

विद्वेष की वृद्धि करने में योग नहीं दे सकता। दूसरी बात यह है कि मैं ब्राह्मण वर्ग का हूँ—यह हीनता का पाप कैसे अपने सिर पर खुशी-खुशी लादना पसन्द करता।"

इसके बाद भाषण-प्रकरण समाप्त हो गया और सभी नामधारी भिक्षुओं ने अपना-अपना चीवर उतार कर साधारण नागरिकों जैसा वस्त्र धारण कर लिया। जनता यह मत-परिवर्तन देखती रही। इस क्रिया के समर्थकों की ही संख्या अधिक थी, विरोधियों की कम!

नागरिकों जैसे कपड़े पहन कर कुर्मायन फिर मंच पर अपने दल के साथ खड़ा हुआ और हाथ जोड़ कर बोला—"भिक्षु बन कर मैं आप से जुदा हो गया था। मेरे ऊपर कोई सामाजिक-उत्तरदायित्व न था। मैं केवल निर्वाण की ही बात सोचा करता था और स्वयं बिना कुछ उत्पादन किये राष्ट्र का अन्न खाता था। यह घोर पाप है। आज से मैं आपका बिछुड़ा हुआ भाई, सखा और सेवक फिर आप की सेवा करने के लिए लौट कर आ गया। प्रार्थना है आप हमें स्वीकार कर लीजिये।"

"अवश्य, अवश्य" की आवाज चारों ओर से आई। कुछ उत्साही व्यक्ति जोश में आकर मंच पर चढ़ गये और कुर्मायन को गले लगाने लगे। कुर्मायन लगातार रो रहा था और हाथ जोड़े सब का अभिवादन करता फिरता था। इसके बाद कुर्मायन मंच के नीचे आया और पहली कतार में जो वृद्ध ब्राह्मण-नेता बैठे थे, उनके चरण छूने लगा और बोला—"बहुत दिनों से इन पवित्र चरणों की धूल से वंचित था। आज फिर मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ कि मेरे मस्तक पर यह परम पावन चरण-रज लगे। मैं धन्य हो गया।"

वृद्ध ब्राह्मण नेताओं ने स्नेह से गद्गद् हो कर कुर्मायन पर आशीर्वादों की झड़ी लगा दी। सभा समाप्त हो गई और भीड़ बिखरने लगी। बुद्धदेव के भक्तों और आलोचकों में जगह-जगह झगड़े शुरू हो गये। ब्राह्मणों का एक वर्ग अलग बन गया तथा क्षत्रियों का अलग—भारी विद्वेष का सूत्रपात हुआ। मगध को ब्राह्मण-वर्ण का रक्षक माना जाने

लगा तथा वैशाली को मस्तक। गणतन्त्र के कठोर संगठन में यह दरार अपना रंग दिखलाने लगी। राज्य के शासक तथा नेता विकल हो कर फिर से पूर्व स्थिति लाने का प्रयास करने लगे किन्तु ज्यों-ज्यो वे मेल-मिलाप का अधिकाधिक प्रयत्न करते रोष बढ़ता जाता।

इसी बीच मे बहुत सी दुर्घटनायें ऐसी हुई जिन में ब्राह्मणों की लड़कियाँ भगाई गई उन का अपमान हुआ और उनकी इज्जत खुले बाजार मे लूटी गई। वर्ग-विद्वेष पराकाष्ठा तक पहुँच गया। इस गंदे काम के लिए मगध के बहुत से गुण्डे चुपके से वैशाली पहुँच गये जो अपने को क्षत्रिय कहते थे और सार्वजनिक जगहों में ब्राह्मण-वर्ण की निन्दा करते थे, गालियां बकते थे और ब्राह्मण महिलाओ का अपमान करते थे। वे इसी काम से आये ही थे। वैशाली-गणतन्त्र मे ब्राह्मण वर्ग ने अपने को पूर्णतः अरक्षित समझा। परिणाम यह हुआ कि उस अभागे वर्ग ने वैशाली गणतन्त्र के प्रति अपने पवित्र कर्तव्यों का त्याग कर दिया। ब्राह्मणों के साथ कुछ निम्नवर्ग के अन्ध श्रद्धालु लोग भी मिल गये—उनकी सख्या बहुत थी। पहले तो विरोध का रूप स्पष्ट होता था किन्तु धीरे-धीरे उसने देश द्रोह का रूप धारण कर लिया। वैशाली-गणतन्त्र के प्रति ब्राह्मण-वर्ग मे घृणा फैलाने का काम कुर्मायन और उसके साथी बहुत ही सफलता पूर्वक करते रहे 'तथा इस की सूचना वर्षकार को मिलती रही जो धर्मेश्वर की छाती पर बैठ कर ध्यान और समाधि का अभ्यास किया करता था। अपने सन-पने का उपयोग उसने राक्षसी कार्यों की पूर्ति के लिए किया। वर्षकार ने धर्मेश्वर की पीठ मे छुरा भोंक दिया जो कूटनीति का एक मुख्य अग है। धर्मेश्वर दलदल मे फंसे हुए हाथी की तरह प्रत्येक क्षण धसता जाता था किन्तु उसने यह जानने का जरा भी प्रयत्न नही किया कि वह जो ध्यान-स्थित संत उसकी कुटिया मे है, वही वैशाली-गणतन्त्र के भीतर क्षय के कीडो को प्रवेश करा रहा है। सभी गुणो के होते हुए भी धर्मेश्वर मे एक भयानक अवगुण था—किसी का विश्वास कर लेना। विश्वासी व्यक्ति ही मारा

जाता है, नष्ट होता है या विपदा में फंसा दिया जाता है। अपने पराये सब से चौकन्ना रहने वाला भले ही सदा अशान्त बना रहे और उसका हृदय भी उद्विग्न रहे, किन्तु उसे धोखा नहीं दिया जा सकता—यह बात राजनीतिज्ञों के सम्बन्ध में कही जा रही है।

वर्षकार ध्यानपूर्वक अपने कुकर्मों के प्रभाव को ध्यान से देखता जाता था और रुक-रुक कर एक-एक चुटकी छिप देता जाता था।

कुछ तो अत्यधिक आत्मविश्वास ने और कुछ सरलता ने वैशाली वालों को असावधान बना दिया था। उनका जीवन सीधा और सरल था, उसमें संघर्ष न था। जो जाति बिलकुल ही आराम की जिन्दगी व्यतीत करने लगती है वह बहुत ही जल्दी नष्ट हो जाती है—संघर्षशील जातियाँ ही धरती पर अब तक जीवित हैं। वैशाली वाले अपने गणतंत्र के भीतर पूरी तरह निश्चिन्त थे, किसी प्रकार की चिन्ता, विपदा न थी; कोई भय, खतरा या उत्पीड़न न था। राजनीति के स्तर पर पहुँच कर किसी विषय पर विचार करने और फैसला करने की आदत ही उनमें न थी। वे अपनी सर्वांगपूर्ण परिषद् की ओर ताका करते थे और अपना निश्चित कार्य मशीन की तरह पूरा करते रहते थे। एक ही स्थिति में रहते-रहते विचारों की बाढ़ रुक जाती है, उसके भीतर की गर्मी गायब हो जाती है—अतः परिवर्तन आवश्यक है जीवन को गतिवान् रखने के लिए। वैशाली वालों का जीवन भरपेट स्वादु भोजन पेट में ठूँस लेने के बाद नरम बिछावन पर लेट कर आनन्द की खुमारी का सुख लेने वाले किसी परम आलसी व्यक्ति का सा जीवन बन गया था। अभाव है तो बुरी चीज किन्तु अभाव की पूर्ति के लिये सिरतोड़ परिश्रम करने में जुटे रहने से कर्मकौशल की वृद्धि होती है, विचार और शरीर दोनों में गर्मी रहती है दोनों गतिशील रहते हैं, मानव की प्रतिभा निर्माणोन्मुख रहती है, उपाय खोजती है और विकसित होती रहती है। वैशाली गणतंत्र ने जीवनोपयोगी साधनों का अम्बार लगा कर जनता को चिन्तारहित कर दिया था। सभी कार्य शासन की ओर से कर दिये

जाते थे। जनता का काम था खाना-पीना और सुखपूर्वक टाँगें पसार कर नींद लेना। इसका परिणाम बहुत ही भयानक हुआ और सैनात की माया वहाँ बिना विरोध के फूलने-फलने लगी और वैशाली गणतंत्र की रीढ़ को कमजोर करने लगी।

एक ओर यह हो रहा था और दूसरी ओर करुणावतार बुद्ध जेतवन से बिना लक्ष्य बतलाये हुए चल पड़े*। उन्होंने आनन्द से केवल इतना ही कहा—

"आयामानन्द, येन अम्बलट्ठिका
तेनुपसङ्कमिस्सामा, ति।"

[चलो आनन्द, जहाँ अम्बलट्ठिका (सम्भवतः वर्तमान 'सिलाव' जो पटना ज़िले में है) है वहीं चलें।]

यह भगवान् की अन्तिम यात्रा थी। उनका मन एकाएक मगध से उचट गया था। वे वहाँ रहना नहीं चाहते थे। अम्बलट्ठिका से भगवान् चलते हुए पाटलिग्राम (वर्तमान पटना) पहुँचे। पाटलिग्राम (पाटलिपुत्र) को देख कर भगवान् ने कहा‡—

"पाटलिपुत्तस्स खो आनन्द, तयो
अन्तराया भविस्सन्ति अग्गितो वा,
उदकतो वा, मिथुभेदावा, ति।"

[हे आनन्द, पाटलिपुत्र के तीन शत्रु होंगे—अग्नि, जल (बाढ़) और गृहकलह]

बुद्धदेव का यह भयानक शाप आगे चल कर पाटलिपुत्र के सिर पर वज्र बन कर गिरा। वर्षकार को यह पता न था कि जिस पाटलिपुत्र को अमर बनाने के लिये वैशाली गणतंत्र के प्राण निकाल कर पाटलिपुत्र में प्रवेश कराना चाहता था वह पाटलिपुत्र महात्मा के शाप से ग्रोहस्त गया। आनन्द सिहर उठा किन्तु चुप रहा!!!

---

*देखिये 'महापरिनिब्बानसुत्त'—१६

‡देखिये 'महापरिनिब्बान सुत्त'—३६

अनाहूत सहायक

वर्षकार के सहायक मंत्री का नाम था सुनीध, जो वर्षकार के वैशाली आ जाने के बाद मगध का महामात्य बना दिया गया था। वह भी परम कूटनीतिज्ञ था किंतु उसकी मानवता मरी न थी। वर्षकार के बाद सुनीध ने कोशल के ब्राह्मण महामात्य दीघ कारायण से अपना संबंध स्थापित कर लिया था। कोसल का राजा था 'विडूडभ' जो बहुत ही उग्र स्वभाव का था*। उसके पिता ने शाक्यों से यह प्रार्थना की थी कि विवाह करने के लिये उसे एक शुद्ध रक्त वाली शाक्य कन्या मिलनी चाहिये जिसे वह पटरानी बनायेगा। इधर शाक्यों में जातीय अभिमान इतना बढ़ गया था कि वे सारे संसार को हीन और अपने को उत्तम मान बैठे थे। शाक्य अत्यन्त गर्वीले और लापरवाह थे। उन्होंने 'वसब खत्तिया' नाम की एक दासी-पुत्री को भेज दिया। बेचारे कौसलपति ने उसी से विवाह कर लिया। विडूडभ का जन्म इसी दासी-पुत्री से हुआ। दीघ कारायण के प्रयत्नों से जब विडूडभ गद्दी पर बैठा तो वह अपने ननिऔरा पहुँचा, जहां उसे पूरा अपमान भोगना पड़ा। शाक्यों ने उसे अपनी पांत से अलग भोजन दिया—जैसे नीच जाति के लोगों

*देखिये डा० राधाकुमुद का 'हिन्दू सिविलिजेशन'

को भोजन कराया जाता है। किसी शाक्य ने उसके हाथ का जल पीना भी पसन्द न किया। बात फूट गई और विड्डम क्रोध से तिलमिला उठा। वह तुरन्त लौटा। यह पता सुनीथ को चल गया और उसने वर्षकार को इस परिस्थिति से लाभ उठाने की सम्मति दी।

विड्डम क्रोध से उबलता हुआ जब लौट रहा था तो वर्षकार का गुप्तचर रास्ते मे उससे मिला। विड्डम अपने शिविर में अपमान और क्रोध से व्यग्र बैठा था। आग भड़क रही थी—घी लेकर वर्षकार का दूत उसके सामने पहुँचा।

क्रोध-व्यग्र मनुष्य की बुद्धि स्थिर नही होती, वह किसी भी उपाय से अपने क्रोध से छुटकारा पाना चाहता है। सही बात तो यह है कि क्रोध की पीडा से व्यग्र होकर ही क्रोधग्रस्त व्यक्ति अनर्थ कर बैठता है—ऐसा करने से उसका क्रोध शान्त हो जाता है और उसके मन को आराम मिलने लगता है। विड्डम का भी यही हाल था। वह सोच नही पाता था कि शाक्यो से कैसे अपना बदला सधावे। वह अपने राज्य की ओर लौट रहा था। वह दासी-पुत्र है, यह बात उसके दल के सभी व्यक्ति जान गये थे और कानाफूसी भी होने लग गई थी। जो कोई भी विड्डम की ओर देखता या देख कर मुस्कराता तो उसका हृदय रोष और लज्जा से छटपटा उठता। उसे ऐसा लगता कि वह व्यक्ति जानता है कि विड्डम दासी-पुत्र है और इसीलिये उसकी ओर ताक रहा है या मुस्करा रहा है। उसने अपने मित्रो पर भी शक करना शुरू कर दिया था, मंत्रियो को देख कर भी लज्जा से विकल हो उठता था। उसकी आत्मा भीतर ही भीतर दबी जाती थी। वह कभी आत्मघात करने के लिये उतारू हो जाता तो कभी किसी अज्ञात स्थान मे जाकर प्राण त्याग कर देने की बात सोचता। वह जिस अपमान की अन्तहीन खाई मे लुढ़क गया था वहाँ से शरीर के रहते उद्धार असम्भव था। जिस शरीर का रक्त दूषित हो चुका था, माँस-मज्जा-चमड़ी मे रोष पैठ चुका था उसका क्या इलाज हो सकता है।

वर्षकार का दूत विड्डम के निकट पहुँचा तो उसने उसका स्वागत किया। दूत ने देखा कि राजा पागलों की स्थिति में पहुँच चुका है। चेहरा पीला हो गया है और आँखें भीतर धँस गई हैं। यौवन अकाल में ही विदा हो चुका है तथा बुढ़ापा झलकने लगा है। मन की व्यथा शरीर को उसी तरह नष्ट कर देती है जैसे घुन मजबूत से मजबूत काठ को।

विड्डम बोला—"आखिर मैं क्या करूँ?"

दूत ने कहा—"बदला! शाक्यों ने आपके साथ महाजघन्य विश्वासघात किया है। आप इस तरह क्षीण होते जाइयेगा। इस महारोग की औषधि है कस कर बदला लीजिये।"

विड्डम को यह बात पसन्द आ गई। उसने ठान लिया कि शाक्यों का मूलोच्छेद करके ही मैं सुख की साँस लूँगा, यों नहीं।

वह बोला—"शाक्य संगठित और बलवान् हैं। क्या मैं उनसे लड़ सकता हूँ?'

दूत बोला—"आप क्या सोचते हैं महाराज! शाक्यों में अब आपसी फूट पैदा हो गई है। हाथी के खाये हुए कैंत (कपित्थ) की तरह उसके भीतर कुछ भी नहीं है।"

विड्डम बोला—"वह हाथी कौन है?"

दूत बोला—"मगध के महामात्य आचार्य वर्षकार।"

वर्षकार की महिमा से विड्डम अवगत था। वह जानता था कि वर्षकार साक्षात् शैतान है, पक्का मायावी और ब्राह्मण के शरीर में राक्षस है। राजनीति में संतों की कभी जरूरत नहीं रही, वे जल्दी ही बेकार हो जाते हैं और कूड़ाखाने में फेंक दिये जाते हैं। राजनीति उसी को फूलने-फलने का अवसर देती है जो मानवता का खून करके, धर्म, ईमान, दया, ममता, न्याय, उदारता आदि गुणों के झंझटों से मुक्त होकर मैदान में उतरता है। वर्षकार इन सारी 'कमजोरियों से पूर्णतः मुक्त था। विड्डम की आँखें चमक उठीं। उसने अपने सामने प्रकाश

देखा, उसकी प्रतिहिंसा का विषधर फूत्कार करने लगा जो अब तक फन समेटे बाँबी में अधमरा बना पड़ा था। विडूडम ने सोत्साह पूछा—"आर्य वर्षकार आजकल कहाँ हैं?"

दूत बोला—"अजातशत्रु ने प्रमादवश उन्हें राज्य से बाहर निकाल दिया। वे वैशाली के महामात्य धर्मेश्वर की कुटिया मे विश्राम कर रहे हैं।"

एक सक्रिय कूटनीतिज्ञ शरीर में प्राण रहते विश्राम करेगा—यह असम्भव बात विडूडम की समझ में नहीं आई। किसी ने भी बिजली को आकाश में स्थिर देखा है? किसी ने भी बन्दर को समाधि लगाते देखा है? किसी ने भी शाकाहारी शेर देखा है? किसी ने भी ममतामय भेड़िया देखा है? नहीं—यह प्रकृति-विरुद्ध बात है। कूटनीतिज्ञ भी स्थिर नही रह सकता, कभी नही रह सकता। वह जहाँ भी रहेगा, नरक मे या स्वर्ग मे खुराफातों की सृष्टि करता रहेगा। न सुख की नींद सोयेगा और न किसी को सोने देगा। कूटनीतिज्ञ शान्त हुआ न कि मरा! जान बूझ कर मरना किसे प्रिय हो सकता है।

विडूडम ने अकचका कर पूछा—"आर्य वर्षकार विश्राम कर रहे हैं? यह क्या कह रहे हो? वे घुन लगा कर समय काटने वाले जीव नही हैं।"

दूत सँभल कर बोलने लगा—"महाराज का अनुमान सत्य है। अभी तो प्रत्यक्ष रूप से वे कुछ कर नही रहे हैं, इसी लिये मैंने ऐसा निवेदन किया।"

"समझ गया"—विडूडम ने कहा—"पक्का कूटनीतिज्ञ परिस्थिति पैदा होने की प्रतीक्षा नही करता, वह मनोनुकूल परिस्थिति स्वयं पैदा कर लेता है और उससे लाभ उठाता है। शायद आर्य वर्षकार यही कर रहे हों।"

दूत ने इधर उधर देख कर धीरे से कहा—"महाराज ठीक ही कह रहे हैं।"

विड्डम मुस्कराया और बोला—"वे मेरी क्या सहायता कर सकते हैं, स्पष्ट कहो।"

दूत ने कहा—"आचार्य आपकी बहुत बड़ी सेवा करने की क्षमता रखते हैं। आप जब आक्रमण करेंगे तब इसका पता चलेगा। शाक्यों से ब्राह्मणवर्ग बुरी तरह चिढ़ चुका है। वैशाली-गणतंत्र की परिषद् में एक ही वर्ग के लोग हैं—सात हजार सात सौ सात 'राजन्'। ये सभी राजन् शाक्य, लिच्छवी आदि हैं। क्षत्रियों ने गणतंत्र का माया जाल फैला कर ब्राह्मणों, वैश्यों और दूसरी जातियों को प्रकारान्तर से गुलाम बना रखा है। इन 'राजन्' की अनियंत्रित-स्वतंत्रता ने इन्हें उद्धत बना दिया है और जनता इनके उद्धतपन से ऊब कर अराजकता की स्थिति में पहुँच चुकी है।"

विड्डम ने कहा—"समझ गया। यदि जनता साथ न दे तो किसी भी राष्ट्र को दबा कर रखना किसी भी विजेता के लिये संभव नहीं है। यदि वह ऐसा करे भी तो कभी न कभी उसे भागना ही पड़ेगा। यदि जनता का समर्थन मुझे प्राप्त होता है तो मैं शाक्यों का संहार कर के ही दम लूँगा। उन्होंने मेरे साथ भयानक विश्वासघात किया है।" दूत उत्साहित होकर बोला—"महाराज की जय हो। जनमत आपका साथ देगा, जनता आपका स्वागत करेगी और प्रबल ब्राह्मण-वर्ग आपको अपना रक्षक मान कर आपकी शुभ-कामना करेगा।"

विड्डम फिर गम्भीर हो गया और कहने लगा—"मैं तैयार हूँ और बहुत शीघ्र शाक्य-जनपद पर आक्रमण करूंगा ही। वैशाली-गणतंत्र की रीढ़ जरूर टूट जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं जानता हूँ कि घर के भीतर अव्यवस्था फैल से जाने शासन में ढिलाई आ जाती है और शासन में ढिलाई आई न कि समाज-विरोधी तत्वों का बल मिल जाता है। फिर परिस्थिति सँभालना शासकों के लिये कठिन ही मान लो।"

दूत ने पूछा—"घर में अव्यवस्था कैसे पैदा हो जाती है महाराज?"

"शासक की कमजोरी से"—विड्डम बोला—"या अन्याय, पक्षपात और मनमानी से—बहुत से कारण हैं। शासनोरूढ़ व्यक्ति या दल के आगे पीछे जो उसके समर्थक गीधो की तरह लगे फिरते हैं, वे ही उस शासक या शासनारूढ दल को खत्म कर देते हैं। वैशाली-गणतंत्र का अन्त निकट है क्योकि शासकों के मन मे अहंकार पैदा हो गया है और वे उचित अनुचित, न्याय-अन्याय का कोई विचार नहीं करते। उन्होने मान लिया है कि वे शासन करने के लिये ही धरती पर पधारे हैं और उनके हाथ से शासन दंड छीनने वाला कोई भी नही है, न भविष्य मे ही किसी ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है।"

दूत बोला—"महाराज ने ठीक ही समझा, यही बात है। वैशाली-गणतंत्र भीतर ही भीतर खोखला होता जा रहा है। अब उसके गठन की कठोरता समाप्त होती जा रही है। बाँध मे दरार पड़ जाने से जैसे बाढ का पानी भीतर फैलने लगता है उसी तरह वैशाली-गणतंत्र में अराजकता फैल रही है। महाराज, अराजकता न केवल शासन की ही रीढ़ तोड देती है बल्कि जनता के नैतिक-स्तर को भी नीचे गिरा देती है। परिणाम यह होता है कि सारा का सारा राष्ट्र नष्ट हो जाता है।"

विड्डम ने प्रश्न किया—"इसका दायित्व शासन पर है। मैं समझ गया। यही अवसर है जब मैं शाक्यो का गर्वोन्नत मस्तक चूर-चूर कर डालूँ। जब बैरी कमजोर बन गया हो उसी समय प्रहार करना चाहिए, बलवान बन जाने पर वह निगल ही जायगा।"

दूत ने हाथ जोड़ कर कहा—"यही अवसर है महाराज, विलम्ब न कीजिये। दीवारें हिल रही हैं। आप जोर से आघात कीजिये—बस, सारा किस्सा समाप्त हो जायगा। आचार्य वर्षकार अत्यन्त सावधान रह कर परिस्थिति का अध्ययन कर रहे हैं। वे एक-एक घटना पर गौर करते हैं, सोच विचार करते हैं।"

विड्डम कहने लगा—"पानी मे 'वंशी' डाल कर जिस तरह मछली मारने वाला चुपचाप बैठ जाता है और प्रतीक्षा करता है, उसी तरह एक

सिद्ध राजनीतिज्ञ भी वंशी डाल कर चुप लगा जाता है। जल्दबाज़ी करने से मछली भाग जायगी, वह स्वयं काफी चंचल होती है।"

दूत ने कहा—"महाराज, मुझे आचार्य तक पहुँचाने के लिये कोई संदेश देने की कृपा करें तो आचार्य को बहुत प्रसन्नता होगी।"

विड़ूडम बोला—"मैं अपने महामंत्री आचार्य दीघ कारायण से परामर्श करूँगा और शीघ्र ही इसकी सूचना आर्य वर्षकार को दे दूँगा।"

जरा-सा रुक कर विड़ूडम बोला—"सुनो दूत! सावधान रह कर काम करना। राजनीति में बात फूट जाने का मतलब होता है भाग्य फूट जाना।"

दूत हाथ जोड़कर बोला—"महाराज, मैं सावधान हूँ।"

दूत ने लौट कर वर्षकार को सारी कथा सुनाई तो वह बोला—"ठीक है यक्षदत्त, मैं तो विड़ूडम को भी नालायक मानता हूँ। मुझे वैशाली का नाश करके ही रुकना नहीं पड़ेगा, विड़ूडम से भी निवटना होगा। यह पीछे की बात है। चाहे अपने लगाये वृक्ष का ही कंटक हो, वह कंटक ही तो है। मैं इस दुष्ट विड़ूडम को भी कंटक ही मानता हूँ।"

यक्षदत्त वर्षकार का प्रिय शिष्य और अत्यन्त विश्वासी व्यक्ति था। वह बोला—"आचार्य, पहले काँटे से काँटा निकालिये, फिर दोनों काँटों को जूते से रगड़ कर समाप्त कर दीजिये।"

"यही मैं भी अच्छा समझता हूँ,—धीरे से वर्षकार ने उत्तर दिया और आँख के इशारे से यक्षदत्त को खिसक जाने का इशारा किया। यही यक्षदत्त दूत बन कर विड़ूडम के यहाँ आधी रात को गया था। यक्षदत्त के जाने के बाद ही धर्मेश्वर का रथ आया। धर्मेश्वर इतना थक गया था कि सारथी ने सहारा देकर महामात्य को नीचे उतारा। धर्मेश्वर झुक गया था और उसकी साँस भी जोर-जोर से चला करती थी। उसने भोजन करना बन्द कर दिया था और थोड़ा-सा दूध मात्र लेता था। वह कभी-कभी कराह कर 'नारायण, नारायण' का उच्चारण बहुत ही धीमे स्वर में और करुणा से भर कर करता था।

शिकारी को जिस तरह अपने घायल शिकार का तड़पना और दम तोड़ना अच्छा लगता है, उसी तरह वर्षकार को भी धर्मेश्वर का तिल-तिल करके घुलना प्रिय लगता था। अपनी आसुरी शक्ति का परिचय किसी पर प्रहार करके ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रहार का परिणाम जितना ही गम्भीर होगा प्रहारक को उतना ही अपनी शक्ति का परिचय प्राप्त होगा, उतना ही प्रज्वलित आनन्द प्राप्त होगा। वर्षकार को भी आनन्द प्राप्त होता था धर्मेश्वर को कातर होते देख कर—धर्मेश्वर का धीरे-धीरे क्षीण होते जाना ही वर्षकार की योजना का धीरे-धीरे सफल होना था। सफलता किसे आनन्द नहीं देती—वह सफलता चाहे पैशाचिक ही क्यों न हो, राक्षसी ही क्यों न हो, अमानुषिक ही क्यों न हो। सफलता सफलता है और आनन्द देने वाली है।

धर्मेश्वर रथ से उतर कर अपनी कोठरी की ओर चला गया। वह मृगचर्म पर बैठ कर स्थिर हो गया—मानो अपने भीतर स्थिर देवता से कह रहा हो—"देवता, यह तुमने क्या कर दिया। वैशाली गणतंत्र धीरे-धीरे अतल सागर में डूबता जा रहा है। प्रकाश दो, सत्य का प्रकाश दो।"

इधर वर्षकार आसन मार कर अपने देवता से विनय कर रहा था—"देवता ऐसी शक्ति दो कि मैं इस गर्वोन्नत गणतंत्र को पैरों से रौंद कर समाप्त कर दूं।"

तमाशा यह था कि दोनों एक ही नारायण के उपासक थे।

पाप का घड़ा

पाप का घड़ा रत्नखचित होता है और उसका आकार भी छोटा और सुन्दर होता है। इस घड़े को भरना भी उतना परिश्रम साध्य नहीं है अनायास ही इसे भरा जा सकता है। लोग भरते हैं, मगर कठिनाई उपस्थित उस समय होती है जब पाप के घड़े को कोई खाली करना चाहता है। पाप के घड़े को भरने में होड़ भी हो जाती है—कौन इसे पहले भरता है। राजनीति में ऐसी होड़ होती ही रहती है। जो जितनी जल्दी अपने पाप-घट को भर लेता है वह उतना ही प्रभावशाली और सफल महारथी माना जाता है। एक व्यक्ति का गला काटने वाला हत्यारा कहा जाता है किंतु सैकड़ों, हजारों व्यक्तियों का, स्त्रियों और बच्चों का, वृद्धों और बीमारों का वध करने वाला वीर का पद प्राप्त करता है और लोग उसकी बाँह की पूजा करते हैं। यही बात राजनीति में भी है। जो जितना अनाचार कर सके, जनहित के नाम पर जनता का जितना खून बहा सके, लोकहित की दुहाई देकर जितना कुकर्म कर सके, अपने पाप के घड़े को जितनी जल्दी भर सके, वह उतना ही प्रातः स्मरणीय, सफल सेनानी माना जाता है। और हम देखते हैं कि वर्षकार एक सफल नायक था। वैशाली-गणतन्त्र का महामात्य घर्षेश्वर इस दृष्टि से विफल कहा जा सकता है। उसने अपने राष्ट्र की रक्षा नहीं

की, किसी भी उपाय से अपना मतलब निकालना स्वीकार नहीं किया और एक दिन ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि उसे अपनी परिषद् के सामने क्षमा-याचना करके पद-त्याग कर देना पड़ा। परिषद् की बैठक बहुत दिनों बाद बुलाई गई थी। वैशाली वाले प्रति सप्ताह अपनी परिषद् की बैठक करते थे और मिल-जुल कर काम करते थे किंतु आपस का मतभेद इतना तीव्र हो गया था कि बैठक बुलाना संकट को बढ़ावा देना था। नये सेनापति की घोषणा इसी लिए रोक दी गई थी। प्रत्येक बलवान दल अपने ही दल का सेनापति बनाना चाहता था। कई रिक्त पदों की पूर्ति के लिए परिषद् बुलाई गई थी मगर सदस्यों में तलवारें खिंच गई। बड़ी कठिनाई से परिस्थिति को शान्त किया गया। स्वार्थ्य-भेद भयानक होता है। मतभेद का बुरा असर राष्ट्र पर नहीं पड़ता। पहले वैशाली-गणतन्त्र की परिषद् में मतभेद होता था लोग अपने-अपने विचार उपस्थित करते थे, तर्क देते थे किन्तु बहुमत का निर्णय मतभेद भूल कर मान लिया जाता था। सबका समान स्वार्थ था—राष्ट्र की उन्नति और सबके हित के साथ ही अपना हित। यह बात समाप्त हो गई थी और सात हज़ार सात सौ सात 'राजन्' बीसों टुकड़ों में बट चुके थे। वर्षकार के विद्वान् और धूर्त गुप्तचर तमाम घुसे हुए थे। वे वातावरण को विषाक्त बना चुके थे। वे कूटनीतिज्ञ दरबारी, पार्षद, गायक, दैवज्ञ और वैद्य बन कर सभी 'राजन्' के घरों में स्थान पा चुके थे। सुन्दरी गायिकायें और वेश्यायें भी बहुत से कुलीन परिवारों में घुस कर कलह पैदा करा रही थी। मद्यशालायें खुलने लगी थी और घर-घर में मद्य की धारायें बहने लगी थी।

जिस राष्ट्र का नैतिक स्तर गिर जाता है उस राष्ट्र की रक्षा भगवान् भी नहीं कर सकते, सो तो वैशाली की सीमा के भीतर भगवान् का प्रवेश-निषेध था। बुद्धदेव के उपदेशों ने वैशाली को ठोस तो बना दिया था किन्तु उनसे उनका साथी भगवान छीन लिया गया था।

केवल धरती की विभूतियों का ही चिन्तन करते-करते वैशाली वालों

का हृदय बिल्कुल ही घबरा चुका था—उसमें न तो पसीजने का गुण शेष बचा था और न कराहने की ही ताकत रह गई थी।

केवल धर्मदेवर ने अपने नारायण का साथ नहीं छोड़ा था। अपने पद से अलग होकर धर्मदेवर जब कुटिया में लौटा तो उसने सारथी से कहा—"कल से रथ लाने की आवश्यकता नहीं है।"

वर्षकार कहीं चला गया था। धर्मदेवर का मन हलका हो गया था और उसे ऐसा बोध हो रहा था कि उसने महामात्य का पद त्याग करके अपने आपको प्राप्त कर लिया, जिसे वह कर्म कोलाहल में गँवा चुका था। सच्चे ज्ञानी को जब आत्मोपलब्धि हो जाती है तब वह स्वर्ग को भी तुच्छ समझने लगता है। वर्षकार ने उस दिन जी लगा कर नारायण का ध्यान किया और कहा—'प्रभो, तुमने मुझे कहाँ से ला कर कहाँ फँसाया और फिर बन्धन मुक्त करके मुझे किधर हाँकना तै कर लिया है, यह मैं कैसे जान सकता हूँ। कुछ भी हो तुम मेरे साथ रहो, मैं सुखी हूँ।"

गणतन्त्र के अध्यक्ष नीतिरक्षित परिषद् के इस निर्णय से बहुत ही विचलित हो उठे किन्तु वे भी तो नियमों के बन्धन में बँधे थे—क्या करते!

समष्टि के हित में व्यक्ति का बलिदान गणतन्त्र में होता ही रहता है—यही उसकी विशेषता है। उस दिन धर्मदेवर का बलिदान हो गया जो बहुत ही करुण पूर्ण था। नीतिरक्षित ने अपने विदा होने वाले महामात्य से बहुत ही विकल स्वर में कहा—"आचार्य, आप कार्य-भार से मुक्त हो गये किन्तु राष्ट्र-हित के भार से मुक्त आप नहीं हो सकते। यदि राष्ट्र पर आपदा आवे तो आपको मैं सबसे पहली पाँत में देखना चाहता हूँ।'

धर्मदेवर-ने निर्विकार चित्त से उत्तर दिया—"आर्य, आप जैसे रक्षक जब तक वर्तमान हैं वैशाली-गणतंत्र पर संकट कैसे आ सकता है। अनार्य-प्रभाव न फैलने पावे, इसका ध्यान रखियेगा।

"यह अनार्य-प्रभाव क्या होता है आचार्य"—नीतिरक्षित ने पूछा।

धर्मेश्वर ने जवाब दिया—"जो इस राष्ट्र को बिना किसी स्वार्थ के स्वभाव से ही अपना राष्ट्र मानते हैं वे ही सच्चे नागरिक या विश् (प्रजा) हैं। जो किसी विशेष उद्देश्य से ही इस राष्ट्र को अपना मान रहे हैं वे जन्म से आर्य होने पर भी आनार्य हैं, उन पर विश्वास मत कीजियेगा।"

इतना बोल कर धर्मेश्वर ने नीतिरक्षित को आशीर्वाद दिया और विदा होने की आज्ञा माँगी। अब धर्मेश्वर का पद एक आचार्य का पद था जो महामात्य के पद से कहीं अधिक पवित्र और गौरव पूर्ण था। नीतिरक्षित ने आचार्य के चरणो का स्पर्श किया और कहा—'राष्ट्रपति नही, आपका सेवक नीतिरक्षित चरण वन्दना कर रहा है।"

इसके बाद धर्मेश्वर विदा हो गये।

अपनी कुटिया में पहुँच कर धर्मेश्वर ने वर्षकार को अनुपस्थित पाया और उसकी प्रतीक्षा करने लगे। वर्षकार नही आया। रात समाप्त हो गई, दिन भी समाप्त हो गया पर वर्षकार नही लौटा तो धर्मेश्वर का माथा ठनका। आचार्य ने तुरन्त भाँप लिया कि वर्षकार ने उन्हे धोखा दिया। ऐसे मायावी का विश्वास करके उन्होने अपने गणतंत्र को काल के मुह में भोंक दिया—एकाएक जैसे उनके भीतर की लाखों-करोडों आँखें खुल गई। धर्मेश्वर का हृदय कराह कर ऐंठ गया—हाय, उन्होने अपने गणतंत्र का खून करा दिया। वर्षकार ही यहाँ बैठे-बैठे उपद्रवों का संचालन करता था और अव्यवस्था फैला कर उसने ही वैशाली-गणतंत्र की रीढ तोड़ डाली है—यह सत्य धर्मेश्वर से छिपा न रह सका। वे पछ्ता-पछ्ता कर रोने लगे। पर तीर चुटकी से निकल चुका था और निशाने पर बैठ भी चुका था। यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई धोखे में अपने इकलौते को दवा के बदले मे जहर पिला दे और फिर खड़ा-खड़ा अपने जीवन धन को ऐंठ-ऐंठ कर दम तोड़ते देखे। यही गलती धर्मेश्वर से भी हुई थी—उनका जीवन-धन वैशाली गणतंत्र उनके पैरों के पास दम तोड़ रहा था। कोई नही जानता था।

कि उसका जो सब से विश्वासपात्र और योग्यतम रक्षक था उसी के हाथों से उसे विष मिला। कोई जाने या न जाने स्वयम् धर्मेश्वर तो यह जानते थे कि एक बहुत बड़ा अपराध उन्होंने इच्छा न रहते हुए भी कर डाला। एक सुगठित गणतन्त्र का नाश उनकी साधुता के ही चलते क्यों न हो रहा था, पर होता रहा है, धर्मेश्वर की दशा पागलों की सी हो गई—वे वाणविद्ध पंछी की तरह धरती पर फड़फड़ाने लगे। अब उपाय क्या था! वृद्ध आचार्य कभी रोते, कभी नारायण का ध्यान करके क्षमा याचना करते और कभी अपनी कोठरी में छटपटाते हुए टहलते। तीसरा और चौथा दिन भी बीता पर धर्मेश्वर ने अन्नग्रहण नहीं किया। उनका हृदय चिता की आग की तरह धू-धू कर के जल रहा था। उनका मन बार-बार कह रहा था कि—"तू अपराधी है। शत्रु के महामात्य की बातों पर विश्वास करके उसे अपनी शरण में क्यों रखा? क्यों तू ने उस राष्ट्र का खून करा दिया जिसने तुझे अपना प्रधान रक्षक स्वीकार करके अगाध विश्वास प्रकट किया था? यदि वर्षकार विश्वासघाती है तो तू भी तो राष्ट्रघाती है। दोनों बराबर ही पाजी हैं।"

चौथा दिन भी समाप्त हो गया। पाँचवें दिन परिषद् की बैठक हो रही थी और धर्मेश्वर नंगे पांव, पांच दिनों का निराहारी अपनी कुटिया से चल पड़ा। दोपहरी का समय था। धरती आग की तरह तप रही थी, आकाश तवे की रतह तप्त था, दिशाएँ भट्ठी की तरह गर्म थीं, हवा आग की लपटें बनी हुई थी। सारा वातावरण आवे की तरह गर्म था किन्तु वृद्ध आचार्य अपनी कुटिया से निकल कर, खेतों और मैदानों को पार करता हुआ चला जा रहा था। भूख, कमजोरी और प्यास से उनका सिर चकरा रहा था किन्तु वे डग बढ़ाते ही जा रहे थे। सच्ची बात यह है कि मानव का मन जहाँ संलग्न होता है, वह वहीं होता है—शरीर चाहे कहीं भी रहे। धर्मेश्वर का ध्यान न तो भूख की ओर था और न लू-लपटों की ओर। चलते-चलते धर्मेश्वर राजपथ पर पहुँचे। उनका सारा शरीर धूल से भरा था, वे एक मैली फटी-सी धोती

लपेटे विक्षिप्त की तरह तेज चाल से चल रहे थे। पथिक रास्ता छोड़ कर हट जाते थे और अभिवादन करते थे किन्तु धर्मेश्वर न तो किसी के अभिवादन का ही उत्तर देते थे और न रुकते ही थे। नगर श्रेष्ठी अपने रथ पर परिषद् में भाग लेने जा रहा था। उसने अपने भूतपूर्व महामात्य को राजपथ पर धूप में ही आगे बढते देखा। रथ रोक कर श्रेष्ठी नीचे कूद पड़ा और धर्मेश्वर का रास्ता रोक कर खड़ा हो गया। धर्मेश्वर टकराते-टकराते बचे। उनका ध्यान भंग हुआ। श्रेष्ठी ने अभिवादन करके पूछा—"कहाँ जा रहे हैं?"

धर्मेश्वर अस्वाभाविक स्वर में गरज कर बोले—'पाप का घड़ा भर गया। उसे खाली करने जा रहा हूँ। मुझे रोको मत।"

श्रेष्ठी घबराया और साहस करके बोला—"चलिये, निश्चित स्थान पर पहुँचा दूँ। अभी परिषद् के बैठने में कुछ विलम्ब है।"

धर्मेश्वर उछल कर रथ पर बैठ गये और श्रेष्ठी के रथ पर बैठने की बिना प्रतीक्षा किये सारथी को डाट कर कहा—"रथ आगे बढ़ाओ।"

सारथी क्षण भर रुका रहा। जब श्रेष्ठी बैठ गया तो रथ आगे बढ़ा। श्रेष्ठी ने फिर पूछा—"आचार्य, आज कहाँ जा रहे हैं?"

धर्मेश्वर ने रुक्ष स्वर मे उत्तर दिया—'परिषद् के सामने अपनी बात कहने, अपने पापों का परिचय देने, प्रायश्चित्त करने। तुम एक पापी के साथ जाना यदि पसन्द नही करो तो मैं उतर जाता हूँ।"

दौड़ते हुए रथ से जब कूद पडने का प्रयत्न धर्मेश्वर ने किया तो श्रेष्ठी ने उन्हे कस कर पकड़ लिया और कहा—"मन को शान्त कीजिये आचार्य! आपको क्या हो गया है?"

धर्मेश्वर रुक गये और खिन्न स्वर मे कहने लगे—"क्या हो गया है, कैसे बतलाऊं आयुष्मान्! हृदय जल रहा है। मैंने अपने प्यारे गणतन्त्र का नाश कर दिया। मरने पर भी शान्ति नहीं मिलेगी। मैं अपने को राष्ट्रघाती मानता हूँ। मैं चाहता हूँ कि परिषद् मुझे समुचित

दंड दे और दण्डाग्नि से तप कर मेरी आत्मा शुद्ध हो जाय, मैं नरकाग्नि में झुलसने से बच जाऊं।"

श्रेष्ठी घबरा गया और चिल्ला उठा—"आप कह क्या रहे हैं आचार्य ! मैं समझ नहीं पाता—आप तो हमारे गणतंत्र के सब से सबल रक्षक हैं। यह कैसी बात है ?"

धर्मेश्वर ने दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा कर धीरे से कहा—"हाय श्रेष्ठी, तुम समझ कर भी सत्य से बचना चाहते हो तो मैं क्या कहूँ। मेरी आत्मा झुलस चुकी है। मैं सचमुच राष्ट्रघाती हूँ।"

रथ परिषद् के विशाल द्वार के सामने आ कर रुक गया। सतर्क प्रहरी द्वार पर खड़े थे—वातावरण बहुत ही गम्भीर और शान्त था।

महानाश का हुंकार

वैशाली गणतंत्र का नाम हम बराबर लेते रहे हैं। वैशाली गणतंत्र वस्तुतः वज्जी-राज्य में प्रायः आठ स्वतंत्र राजकुलों को मिला कर बनाया गया था। लिच्छवी और विदेह राजकुलों की ही प्रधानता थी। राजधानी थी वैशाली। यह स्थान आजकल मुजफ्फरपुर (बिहार) जिला के 'बसाढ़' में था। कोसल राज्य की राजधानी 'श्रावस्ती' थी। यह स्थान उत्तर-प्रदेश के गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर 'सहेय-महेय' नामक ग्राम था। बौद्ध जातकों से स्पष्ट होता है कि बुद्ध के पहले कोशल की राजधानी 'साकेत' (अयोध्या) ही गई थी।

अब इसके बाद उपन्यास का क्रम शुरू होता है। वर्षकार पर्मेश्वर की कुटिया से चुपचाप भाग निकला। कुछ दिनों तक तो उसने गहन वनों में अपने को छिपा कर रखा और फिर उन ब्राह्मणों का गुप्त-संगठन करना आरम्भ कर दिया जो अपने वर्ग में धन, कुल और ज्ञान के कारण प्रधानता रखते थे। कुछ भी हो ब्राह्मण जाति का कुछ न कुछ प्रभाव तो था ही। क्षत्रियों को उनकी बढ़ती हुई शक्ति ने लापरवाह और उद्धत बना दिया था। वे ही 'राजन्' का पद ग्रहण करके शासन करते थे तथा अपने अधिकार को इस जोर से पकड़ रखा था कि गणतंत्र की सारी पवित्रता ही नष्ट हो गई थी गणतंत्र की सब से बड़ी विशेषता यह है कि

सभी वर्गों को समान स्तर पर लाकर सब की आकांक्षाओं को तृप्त करना, सब को ऊपर उठने का समान सुपास प्रदान करना। ठीक इसके प्रतिकूल वैशाली के 'राजन्' केवल अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में ही अपनी सारी शक्ति का उपयोग करने लगे थे। यही कारण है कि वर्षकार को उन वर्गों का समर्थन सहज ही प्राप्त हो गया जो महत्वाकांक्षी थे और अपने को अधिकारच्युत मानते थे—ऐसे वर्गों में ब्राह्मण वर्ग का विशेष महत्व था।

अपने धन और प्रभाव का दुरुपयोग करना ब्राह्मणों ने स्वीकार कर लिया क्योंकि वर्षकार ने यही सीख उन्हें दी थी। एक ब्राह्मण का नाम था काप्यपाल। यह काप्यपाल स्वभाव से ही उग्र और महत्वाकांक्षी था। उसने कहा—"आचार्य, मेरे पास तो अशेष स्वर्ण भंडार है। यदि मुझे आश्वासन मिले कि मगध की सेना हमारी सहायता करेगी तो मैं विद्रोह करने को तैयार हूँ। मेरा साथ सैकड़ों प्रभावशाली ब्राह्मण परिवार देंगे।"

इसके बाद उसने कहा—"मुझे मुख्यामात्य का पद मिलना चाहिये।"

वर्षकार ने बिना एक क्षण विलम्ब किये उसे अपना यज्ञोपवीत स्पर्श करके आश्वासन दे दिया।

वर्षकार के एक विश्वासपात्र गुप्तचर ने जब एकान्त में प्रश्न किया—"क्या यह सम्भव है कि आप काप्यपाल को वैशाली का महामात्य का पद दिला सकेंगे?"

वर्षकार ने उत्तर दिया—"तू भी पक्का मूर्ख है। मैं अपना काम निकालना चाहता हूँ। वह राष्ट्रद्रोही है। आज इसने वैशाली का गला काटा, कल मगध की पीठ मे छुरा भोंकेगा। ऐसे का क्या विश्वास!"

"आपने यज्ञोपवीत स्पर्श करके जो शपथ खाई"—वह गुप्तचर बोला।

वर्षकार मुस्करा कर कहने लगा—"कल उस यज्ञोपवीत को बदल डालूंगा। नये यज्ञोपवीत पर शपथ का कोई बन्धन नहीं रहेगा। मैं अपना कार्य सिद्ध करना चाहता हूँ। जो अपना मतलब निकालना चाहे

वह कुछ भी बोल सकता है, कुछ भी कर सकता है। कोई दोष नहीं है।"

यशदत्त वैशाली का गुप्तचर था किन्तु अनेक उपायों से वर्षकार ने उसे मिला लिया था। वह प्रत्यक्ष रूप में वैशाली का कहा जाता था किन्तु सहायता करता था वर्षकार की। गुप्तचर ने पूछा—"यक्षदत्त के सम्बन्ध में आपने यही निर्णय किया है क्या ?"

वर्षकार गम्भीर होकर बोला—"मैं अपने राज्य की श्रीवृद्धि और उन्नति करना चाहता हूँ। मेरे सामने मेरा लक्ष्य है—न मैं यक्षदत्त को जानता हूँ और न काप्यपाल को। जो अवसर पर सहायता करे वही अस्त्र है।"

घबरा कर गुप्तचर चुप लग गया तो वर्षकार ने कहा—"तुम मेरे पुत्रवत् प्रिय हो अतः मैं सावधान कर देता हूँ, नीति सम्बन्धी प्रश्न मत पूछा करो। जो बात मन में रहती है और कार्य के रूप में प्रकट होती है वह अमृत है, और जो बात इस कान से उस कान में मारी-मारी फिरती है वह विष है। आयुष्मान्, सावधान होकर कदम बढ़ाना।"

सिर झुका कर वह गुप्तचर चला गया और वर्षकार भी चल पड़ा। वह मगध की ओर खिसक रहा था। वह चाहता था कि वैशाली राज्य की सीमा पार करके ही अपना कार्य-केन्द्र बनावे। धर्मेश्वर निश्चय ही उसकी खोज करायेगा और पकड़े जाने पर हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा देगा। वैशाली राज्य में अव्यवस्था का राज्य स्थापित हो गया था। वर्ग-विद्वेष की सीमा पार कर गया था तथा परिषद् में भी दरार पड़ चुकी थी। परिषद् की उच्चता और मान्यता घट चली थी। राजन् भी आपस में उलझ चुके थे।

× × ×

आधी रात हो चुकी।

वसन्त का चाँद नील गगन में मुस्करा रहा था और हवा से मधुवर्षा हो रही थी। दिन भर का कर्म-कोलाहल समाप्त हो गया था। कारोबारी

थके-मांदे अपने-अपने घरों में विश्राम कर रहे थे। बाजारों में यदि भीड़ थी तो उन मौजियों की जो दिन भर सोते और रात भर जागते हैं। फूल-मालाओं और सुगन्धित द्रव्यों की महक भर रही थी। जिस ओर गायिकाओं की बस्ती थी, सुन्दरियों का बाज़ार था, रूप की दुकानें थीं, जीवन की लेन देन होती थी, मानवता का कसाईखाना था, उस ओर काफी भीड़ थी। नवयुवक ही नहीं, प्रौढ़ और वृद्ध भी उन पथों पर चलते-फिरते नज़र आते थे, जो पथ सीधे विनाश की नगरी की ओर जाते थे। मद्य की नई-नई दुकानें जगमगा रही थीं, पहले वैशाली गणतंत्र की सीमा के भीतर वेश्याओं का प्रवेश न था, मद्य पीना भयानक नैतिक-अपराध माना जाता था, किन्तु अब वात नहीं रह गई थी—जैसे-जैसे शासन-पटल में ढिलाई पैदा होती गई अनाचारों की वृद्धि होती गई। जिस जाति में एक बार अनाचारों का प्रवेश हो जाता है उस राष्ट्र का पतन आरम्भ हो जाता है—वर्षकार ने प्रयत्न करके वैशाली गणतन्त्र में वेश्याओं और शराब का तूफान पैदा कर दिया था। चारित्रिक दृष्टि से गिरे हुए लोगों में से ही राष्ट्रद्रोहियों का जन्म होता है और जिस देश में देशद्रोही नहीं होते उस देश को गुलाम बनाया ही नहीं जा सकता, चाहे *उसे जड़ से समाप्त ही क्यों न कर दिया जाय।*

हाँ, वेश्याओं की बस्ती में भीड़ थी और बिना शील-संकोच कर पितामह और पौत्र दोनों मद्यपान करके वेश्याओं के घर में घुसते और बाहर निकलते नज़र आते थे। वेश्यायें खुले पथ पर शृङ्गार करके घूमती थीं और अपने ग्राहकों से सौदा पटाती थीं, फिर उन्हें ले जाती थीं। कोई रोक-टोक न थी और सभी स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन के इस प्रज्वलित आनन्द का उपयोग करते थे। 'राजन्' भी अपने-अपने रथों पर नज़र आते थे। यह भी अचरज की बात थी किन्तु जब विनाश की घड़ी उपस्थित हो जाती है तब अनहोनी बातें ही होती हैं, जिस बात की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता वही सामने आ जाती है।

वेश्याओं के मुहल्ले के अन्तिम छोर पर जनपद-कल्याणी का विशाल

महल था। आज उसके महल मे विशेष चहल-पहल थी। दास-दासियों मे भी बेचैनी थी, सभी दौड़ रहे थे जैसे कोई बहुत बडा उत्सव होने वाला है। जनपद-कल्याणी को राष्ट्रीय गौरव प्राप्त था। वह वेश्या नही थी, नृत्य-सगीत के द्वारा राष्ट्र की चेतना में कला का समावेश करना ही उसका कर्तव्य था तथा राष्ट्रीय उत्सव का आरम्भ उसी के नृत्य-गीत के साथ होता था। वह श्रेष्ठ चरित्र वाली और राष्ट्र की अमूल्य निधि मानी जाती थी। उसका अत्यन्त आदर किया जाता था और उसकी गणना राष्ट्र के श्रेष्ठ व्यक्तियो मे की जाती थी!

उस रात को स्वय जनपद-कल्याणी श्रृङ्गार करने मे व्यस्त थी और नृत्यशाला को बहुत ही सुरुचिपूर्वक सजाया गया था। पचासो कुशल व्यक्ति जो इसी काम में विशेषज्ञ थे, जनपद-कल्याणी की नृत्यशाला को अलकृत करने में दो दिनो से लगे थे। अवसर के उपयुक्त नृत्यशाला की सजावट होती थी। जनपद-कल्याणी किस भाव के गीत गायेगी तथा उत्सव किस बात को लेकर होने वाला है, इसको ध्यान मे रख कर ही नृत्यशाला की सजावट विख्यात कलाकारो के तत्वावधान मे कुशल कारीगर करते थे। सजावट से पता चलता था कि किसी योद्धा का स्वागत वहां होगा। रगमच की सजावट ऐसी थी कि उससे गंभीरता प्रकट होती थी। जनपद-कल्याणी ने भी अपना श्रृङ्गार वीरतापूर्ण किया था। लाल फूल ही उसके जूड़े मे स्थान पा सके थे। खूनी रंग की साड़ी और रक्त-करवीर के अलंकार!

समय निकट आने लगा और व्यवस्थापको मे बेचैनी-सी फैलने लगी। एक-एक करके पचासो रथ जनपद-कल्याणी के विशाल महल के द्वार पर आकर रुके और उन रथो पर से सैनिक-अधिकारी उतरने लगे। एक रथ ऐसा भी आया जिस पर राज्य की ध्वजा लहरा रही थी। चार मजबूत घोड़े रथ मे जुते थे। सारथी सैनिक पोशाक में था। उस रथ से एक प्रौढ व्यक्ति उतरा, विशाल शरीर और पुष्ट भुजायें। रत्नखचित मूठ और म्यान वाली तलवार कटिबन्ध मे लटक रही थी।

सिर पर सोने का जगमगाता हुआ शिरस्त्राण था। वह अत्यन्त शान से उतरा। सब ने उसका अभिवादन किया। स्वयं जनपद-कल्याणी ने उस योद्धा का स्वागत किया। उसका चेहरा डरावना और आँखें लाल-लाल थीं। रंग सांवला तथा कद राक्षस जैसा था—पाँच-छः हाथ लम्बा। जो पहले आ चुके थे वे उस योद्धा के स्वागतार्थ द्वार पर ही रथ से उतर कर खड़े थे। बिना किसी ओर भी भ्रूपात किये वह आगे बढ़ा—किसी के अभिवादन का उत्तर उसने नहीं दिया, जैसे विजयी पराजितों के बीच में दर्प से पैर पटकता हुआ चल रहा हो। रास्ता दिखलाती हुई आगे-आगे जनपद-कल्याणी चल रही थी। दूसरे लोग उससे आठ-दस कदम पीछे-पीछे चल रहे थे। किसी के पैरों की आवाज़ सुनाई नहीं देती थी। वातावरण में रौद्र छा गया था, कंपकंपी पैदा हो गई थी। यह दल रंगमंच की ओर चला।

इसके बाद एक दूसरा रथ आया जिस पर से एक काला-कलूटा पहाड़ जैसा व्यक्ति उतरा—वह भी दैत्य जैसा था। बड़ी-बड़ी मूंछें और दाढ़ी तथा सिर पर लम्बे-लम्बे बाल। वह प्रौढ़ व्यक्ति लाल वस्त्र पहने हुए वधिक जैसा जान पड़ता था। सिर पर चमकदार लोहे के शिरस्त्राण था और कमर में लटकती हुई लम्बी और चौड़ी तलवार। वह रथ से उतरते ही गुर्रा कर महल को देखने लगा। क्षण भर बाद उसका ध्यान भंग हुआ तो सारथी से बोला—"रथ तैयार रखो।"

वह तेज़ चाल से अन्दर घुस गया। उसका स्वागत किसी ने भी नहीं किया। रंगमंच में जाकर सभी यथास्थान बैठ गये थे। जो योद्धा पहले आया था वह सोने के आसन पर बहुत ही लापरवाही से बैठा था और जो दूसरे व्यक्ति आये थे वह चाँदी के आसनों पर बैठे नज़र आते थे। अभी नृत्य-संगीत शुरू नहीं हुआ था। जनपद-कल्याणी योद्धा के निकट बैठी उसका मनोरंजन कर रही थी किन्तु उसका जनपद-कल्याणी क्या, किसी की ओर भी ध्यान देना मानो अपने 'ध्यान' का अपमान समझता था। अहंकार मानव को सब से विमुख बना कर अपना दास

बना लेता है—अहंकार ही क्यों, सभी दुर्गुणो में यही विशेषता होती है। जो जो कुलीन व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे वे सभी उस प्रभावशाली व्यक्ति के सामने सिकुडे और हतप्रभ से जान पड़ते थे।

जनपद-कल्याणी ने सादर निवेदन किया—"आज्ञा हो तो मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करूँ।"

उसने कोई जवाब नही दिया। मौन स्वीकृति पाकर जनपद-कल्याणी चली गई। जब तक उसके ताल से उठने वाले पैरों के घुँघरू की आवाज आती रही उपस्थित समुदाय अपने मन को कानों मे केन्द्रित करके सुनता रहा—छम्, छम्, छम! क्रमशः यह मधुर झंकार क्षीण होती हुई शून्य मे विलीन हो गई। अब प्रकाशोज्वल रंगमंच पर सबकी आँखें चिपक गईं। रंगशाला मे प्रतीक्षा का—विह्वल प्रतीक्षा का सन्नाटा था। ऐसा जान पडता था कि उस रंगशाला मे बोलने का एकमात्र अधिकार जनपद-कल्याणी के पायल को ही है और किसी को भी नही।

फिर दूर पर से छम् छम्, छम् की कर्णप्रिय ध्वनि आने लगी। यह ध्वनि क्रमशः स्पष्ट होती हुई रंगमच के किनारे पर आकर हठात् रुक गई। वीणा, वंशी बजाने वाले चुपचाप निःशब्द आकर अपनी अपनी जगह पर बैठ गये थे, मृदंग-वादक भी मृदंग पर हाथ रखे बैठा था। एक क्षण मे ही सभी मूक वाद्ययन्त्र मुखर हो जाने को मानो भीतर ही भीतर छटपटा रहे थे। वह क्षण कितना प्रभावपूर्ण और भारी था इसका अनुभव तो वे ही कर सकते थे जो वहाँ पर बैठे जनपद-कल्याणी के मुनि-मन-मोहक रूप और स्वर का रसास्वादन करने के लिए अपने धैर्य को तोष और भरोसा देकर समझा रहे थे। जैसे शान्त बैठे हुए और आँखें बन्द करके जुगाली करते हुए भोले-भाले हिरणो के झुंड के ठीक बीच मे भूखा बाघ कूद पड़े—वह यमराज जैसा काला व्यक्ति रंगशाला मे प्रकट हुआ। उसकी दाढी हवा से बिखरी हुई थी तथा दाहिने हाथ में चमकती हुई नंगी तलवार थी। वह बिजली की तरह कौंध कर भीतर घुसा और जो विशेष पुरुष पहले से आकर बैठा था

उस पर टूट पड़ा। हवा में जोर से चलने वाली तलवार की 'सण्, सण्' आवाज गूंज उठी। किसी ने कुछ नहीं समझा कि यह क्या हो गया। किसी ने देखा और किसी ने देखा भी नहीं—उस विशेष व्यक्ति की खोप स्वर्णासन पर से नीचे कट कर गिर पड़ी। एक शब्द भी किसी ओर से सुना नहीं गया। वह यमराज तड़पकर रंगशाला से बाहर हो गया। द्वाररक्षक एक ओर हट गये। वह उछलता हुआ बाहर निकला और रथ पर गरजा—'चलो'।

कोड़ों की मार खाकर घोड़े एक बार दोनों पिछली टाँगों पर खड़े होकर दौड़ पड़े। बाहर जितने रथ खड़े थे उनके सारथियों ने यह जाना भी नहीं कि अन्दर क्या हो गया।

जब वह रथ चला गया तब रंगशाला में हाहाकार मच गया। जनपद-कल्याणी दौड़ी आई और खून देख कर मूर्छित होकर गिर पड़ी। सभी दर्शक अपने-अपने आसनों से उछलते हुए आगे बढ़े, जहाँ पर तलवार की मार से खंड-खंड उस व्यक्ति का भारी शरीर पड़ा था—खून की धाराएँ बह रही थीं, उसका सोने का शिरस्त्राण एक ओर पड़ा था और टूटा हुआ था, जैसे उस हत्यारे ने क्रोध के मारे उस शिरस्त्राण को पैरों से कुचल दिया हो। भयानक अव्यवस्था और चीख-पुकार मच गई। कुछ लोग उछलने-कूदने लगे और कुछ डर से काँपते हुए अपने आसन पर ही अर्धमूर्छितावस्था में पड़े रह गये।

वह व्यक्ति जिसका वध कर दिया गया था गणतन्त्र के अध्यक्ष नीतिरक्षित का साला था। वह सेना का एक निम्न स्तर का पदाधिकार था किन्तु सेनाध्यक्ष के मारे जाने के बाद अध्यक्ष ने अपने साले को ही इस महान् पद पर बिठला दिया था। मृत-सेनाध्यक्ष का जो बराबर का सहयोगी अर्थात् उप-सेनाध्यक्ष था, उसने इसे अन्याय ही नहीं समझा अपना अपमान समझा। सैनिक अपने भाग्य का फैसला तर्क से नहीं तलवार से करते हैं। यह फैसला होता तो भयंकर है किन्तु फिर किसी

को उलझन पैदा करके परिस्थिति के साथ खेलवाड करने का अवसर नहीं मिलता।

यह महानाश का हुँकार था। नव-निर्वाचित सेनाध्यक्ष का यह सम्मान-उत्सव गणतन्त्र का मरघट बन गया !!!

उप-सेनाध्यक्ष ने अपने अधिकार के दलन की पीड़ा को किसी पर भी व्यक्त नहीं किया था—ऐसी बात न थी। उसने वर्षकार से निबिड़ वन में मुलाकात करके अपनी व्यथा की कथा सुनाई थी। वर्षकार ने संक्षेप में कहा था—"अन्याय करने वाले से अधिक पतित होता है अन्याय सहने वाला। अन्याय करने वाला तो अपने 'बल' का प्रयोग मनमानी से करता है मगर अन्याय सहने वाला अपनी कायरता के कारण शान्ति-पाठ शुरू कर देता है। मैं बलवानों का सहायक हूँ—तुम जैसे कायरों का नहीं।"

उप-सेनाध्यक्ष लज्जा और अपमान से तिलमिला उठा। उस दिन नवनिर्वाचित सेनाध्यक्ष के सम्मान में जनपद-कल्याणी का नृत्य था। उप-सेनाध्यक्ष ने वहीं पहुँच कर आरम्भ होने से पूर्व ही नाटक का अन्तिम पटाक्षेप कर दिया। ज़ोर-जबरदस्ती का अन्त ज़ोर-जबरदस्ती से ही होता है !!!

आत्मविसर्जन

धर्मेश्वर पश्चाताप की आग में झुलसते हुए परिषद् के सामने उपस्थित हुए।

किसी को भी यह ज्ञात नहीं कि वैशाली गणतंत्र का पदच्युत महामात्य अपराधी की तरह हाथ जोड़े और सिर झुकाये परिषद् के सामने उपस्थित होगा। प्रधान मंत्री नहीं होने पर भी धर्मेश्वर की प्रतिष्ठा कुछ कम न थी। कुछ ऐसे होते हैं जिनके सिर पर उनका पद चढ़ बैठता है, उनकी गौरव-वृद्धि करता है और कुछ ऐसे भी श्रेष्ठ मानव होते हैं जो पद को अपने चरण-स्पर्श से पवित्र कर देते हैं। सच्ची बात यह है कि सर्वत्र व्यक्तित्व की ही पूजा होती है—घर में भी, समाज में भी, मरघट में भी या स्वर्ग में भी। धर्मेश्वर एक शीलवान् महाविद्वान् व्यक्ति थे। महामात्य का पद उनसे बड़ा न था। अतः वे अपनी श्रेष्ठता के कारण ही सर्वत्र आदर पाते थे, प्रेम पाते थे। परिषद् के सामने जब वे सिर झुकाये और हाथ जोड़े उपस्थित हुए तो कुछ क्षण तक सन्नाटा छा गया—सभी एक दूसरे का मुंह देखने लगे। सभी प्रश्नकर्ता बन गये थे, उत्तर देने वाला केवल 'दुर्भाग्य' या जिसे स्रष्टा ने गूंगा बनाया है। वह चुपचाप आता है, अपना असर फैलाता है और चुपचाप विदा हो जाता है। कुछ क्षण के बाद अध्यक्ष ने पूछा—"आचार्य धर्मेश्वर से

परिषद् उनके इस तरह आने का कारण पूछना चाहती है। वे अपने मनोभाव प्रकट करें, परिषद् की ओर से मैं आदेश देता हूँ।"

आचार्य ने दोनो हाथ उठा कर कहा—"मैं अपराधी हूँ और परिषद् की सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये नही कि क्षमा चाहता हूँ, बल्कि इसलिये कि मुझे समुचित दंड दिया जाय।"

परिषद् मे बेचैनी छा गई। अध्यक्ष सिर झुका कर घोर हृदय-मंथन और आश्चर्य की स्थिति का अनुभव करने लगे। कुछ देर इस हृदय-विदारक चुप्पी के बाद अध्यक्ष ने ऊपर सिर उठाया और परिषद् को लक्ष्य करके कहा—"आचार्य ने जो कुछ निवेदन किया उसे परिषद् ने सुन लिया। परिषद् आदेश दे कि आचार्य अपनी बात प्रकट करें।"

परिषद् ने मौन रह कर सहमति जताई। धर्मेश्वर ने परिषद् का अभिवादन करके कहना शुरु किया—"मैं राष्ट्रद्रोही हूँ और वह इस तरह कि मेरे द्वारा वैशाली-गणतंत्र का नाश उपस्थित हो गया है। राष्ट्रद्रोह मैंने नही किया किन्तु यदि मैं सावधान रहता तो ऐसा वज्रपात न होता। मुझे सावधान रहना चाहिये था—मैं चूक गया।" .

इसके बाद वर्षकार के आने से गायब हो जाने तक की सारी कहानी धर्मेश्वर ने स्पष्ट भाषा में कह कर अन्त में कहा—"मैंने शत्रु का विश्वास किया। यह राष्ट्र मेरा विश्वास करता था, अतः उसने जरा भी विरोध नही किया कि मैंने शत्रु को शरण दी है। राष्ट्र ने और परिषद् ने यही समझा कि मैंने कोई गलत काम नही किया और न कर सकता हूँ किन्तु मैंने किया गलत काम ही, जो मुझे नही करना चाहिये था। राष्ट्र के और परिषद् के पवित्र तथा अगाध विश्वास का मैंने दुरुपयोग किया और अपने गणतंत्र की छाती मे छुरा भोंक दिया।"

घबरा कर सभी 'राजन्' पसीने-पसीने हो गये। धर्मेश्वर की वाणी फिर परिषद् भवन मे गूँजने लगी—"मैं अपने को अपराधी मानता हूँ। परिषद् मुझे दण्ड दे, घोर से घोर दण्ड। मैं दण्ड की आग मे अपनी आत्मा को शुद्ध करना चाहता हूँ। पवित्र उद्देश्य से, न्यायपूर्वं जो दण्ड

दिया जाता है वह दंड दंडग्रहण करने वाले को यमदंड से मुक्त कर देता है। आप मुझ पर कृपा करके दंड दें और मेरी आत्मा को नरकाग्नि में झुलसने से बचा लें।

धर्मेश्वर इतना निवेदन करके निर्णय की प्रतीक्षा में हाथ जोड़े तथा सिर झुकाये खड़े रहे। अब परिषद् में कानाफूसी शुरु हुई। कुछ देर के बाद अध्यक्ष ने कहा—"परिषद् आचार्य को यह अधिकार देती है कि वह अपने सम्बन्ध में स्वयं निर्णय करके परिषद् को उसकी सूचना दे दें।"

इसके बाद परिषद् में दूसरे विचारणीय विषय उपस्थित किये गये और धर्मेश्वर परिषद् को अभिवादन करके कुटिया की ओर लौट पड़े।

अब आचार्य धर्मेश्वर भीतर ही भीतर दो भागों में बँट गये—एक भाग था अपराधी धर्मेश्वर और दूसरा था न्यायाधीश धर्मेश्वर! सत्य था मूक दर्शक इस न्यायालय का! सब कुछ होने पर भी वैशाली गणतंत्र की परिषद् ने धर्मेश्वर की महानता के प्रति पूर्ण विश्वास प्रकट किया था और इस तरह उन पर नैतिक दायित्व का और भी भार लद गया था। अब स्वयं उन्हें अपने सम्बन्ध में निर्णय देना था।

धर्मेश्वर अपने अव्यवस्थित मन को स्थिर करने का प्रयास करने लगे। पारे के बिखरे हुए कणों को बटोर कर एक जगह जमा करना आसान काम नहीं कहा जा सकता। अपने को समेट कर अपने ही भीतर टिका देने का प्रयत्न आचार्य ने पूरा बल लगा कर किया। बड़ी कठिनता से वे सफल हो सके पर अभी पूरी सफलता नहीं मिली थी। अपने प्रति उनके मन में जो घृणा पैदा हो गई थी वह किसी भी उपाय से मिटती ही न थी। अपनी छाया या अपना प्रतिबिम्ब देख कर वे घृणा से चीख उठते थे—"पापी ......राष्ट्रघाती...... पतितात्मा ......विश्वासघाती।"

प्रयास करके उन्होंने अपने को स्वस्थ किया और मन को घृणा जैसी बुरी चीज से साफ कर लिया। अब वे इस स्थिति में पहुँच चुके थे कि बिल्कुल ही तटस्थ रह कर अपने भाग्य का निर्णय न्यायाधीश

बन कर खुद कर सकते थे। यदि उनका मन स्फटिक की तरह मलरहित न हो गया होता तो निश्चय ही उनका निर्णय शुद्ध, पवित्र और न उचित से कम और न उचित से अधिक संतुलित नही हो पाता। समय बीतने लगा। यह खबर जब वर्षकार को लगी तो उसने कहा—"मौका है जब धर्मेश्वर अपने को बचा सकते हैं। परिषद् के सदस्य क्षत्रिय हैं और उन्होंने लोकमत को दृष्टि मे रख कर ही धर्मेश्वर का सिर नही कटवाया। आज कल ब्राह्मणों मे विद्रोही भावनायें काम कर रही हैं। यदि धर्मेश्वर का सिर काट लिया जाता तो यहाँ खुला गृहयुद्ध शुरु हो जाता। धूर्त क्षत्रियो ने धर्मेश्वर के ही मत्थे सारा पाप-ताप लाद कर बड़ा सुन्दर पैंतड़ा दिखाया।"

एक सहकर्मी ने सवाल किया—'यदि धर्मेश्वर राज्य छोड़ कर चला जाय तो ?"

वर्षकार ने कहा—"वैशाली के महाप्रभु कहते फिरेंगे कि ब्राह्मण झूठे, पतित और राष्ट्रघाती होते हैं, इनका कोई विश्वास न करे।"

प्रश्नकर्ता ने फिर पूछा—"और यदि धर्मेश्वर विष खाकर अपने को दड दे ले तो क्या होगा।"

वर्षकार बोला—"होगा क्या ? जनता कहेगी कि स्वय धर्मेश्वर ने अपने को मार डाला, इसमे दूसरे को ब्रह्महत्या का पाप कहाँ लगता है और ब्राह्मण वर्ग ही क्षत्रियो के विरोध मे उभरता है।"

प्रश्नकर्ता ने फिर पूछा—"आप क्या पसन्द करते हैं आखिर क्या होना चाहिए था ?"

वर्षकार बोला—'मैं चाहता था कि धर्मेश्वर को खुली जगह मे खड़ा करके कोड़े मार-मार कर उसकी चमड़ी उधेड़ दी जाती।"

प्रश्नकर्ता घबरा कर बोला—'आप ऐसा कहते हैं ? हे भगवान् !"

वर्षकार ने कहा— तू मूर्ख है रे ! मैं यदि चाहता तो धर्मेश्वर का कभी का खून करवा देता किन्तु मैंने ऐसा नहीं किया। ब्राह्मण वर्ग जरूर मेरा शत्रु बन जाता। मैं चुपके से भाग निकला। परिणाम यही

हुआ—जनता जो कुछ कहे किन्तु 'राजन्' तो जान ही गये कि धर्मेश्वर ने मुझे अपने यहाँ रख कर जानते या अनजानते वैशाली का नाश करा दिया। मैंने सोचा था कि कुछ परिषद् जरूर धर्मेश्वर को भयानक दंड देगी तो मुझे गृहयुद्ध और वर्गयुद्ध भड़काने का सुअवसर मिल जायगा पर ऐसा नहीं हुआ।"

प्रश्नकर्ता फिर बोला – "आपका अनुमान गलत सिद्ध हुआ।"

वर्षकार कहने लगा— "बड़ा लाभ तो नहीं पर छोटा लाभ तो मिला ही। धर्मेश्वर जैसे श्रेष्ठ विद्वान् और राजनीतिज्ञ के मूल्यवान् सहयोग से वैशाली गणतंत्र सदा के लिये वंचित हो गया—क्या यह साधारण लाभ है! यह लाभ जरा देर से फल देगा पर स्थायी फल देगा। आज वैशाली गणतंत्र का सिर कट गया—केवल कटिबंध मात्र शेष बचा जो कब तक खड़ा रहेगा। धर्मेश्वर गणतंत्र का सिर था। किसी राष्ट्र का अपने श्रेष्ठ पुरुषों से वंचित हो जाना क्या साधारण बात है। मैं कहता हूँ, वह राष्ट्र शीघ्र ही रसातल की ओर लुढ़कने लगेगा। मेरे जैसे कोरे राजनीतिज्ञों के भरोसे ही किसी राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता। तलवार से देश जीता जा सकता है मगर खेत जोते जाते हैं हल-फल से न कि तलवार से।

× × ×

धर्मेश्वर के हृदय की आग ठंडी पड़ गई जिसने उनकी इन्द्रियों को झुलस डाला था। वे शान्त चित्त से दैनिक कर्मों का सम्पादन करने लगे और पूर्व स्थिति में पहुँच गये। एक दिन उन्होंने अपने सम्बन्ध में सोचना आरम्भ किया। आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण के द्वारा धर्मेश्वर ने सत्य को उसके असली स्वरूप में देख लिया। उसने अपने सम्बन्ध में एक निर्णय कर लिया। अपने निर्णय पर बार-बार विचार किया। उन्हें भय था कि कहीं जो निर्णय उन्होंने लिया है वह उचित से कम या अधिक न हो। गहराई से विचार कर लेने के बाद उनका मन मर

गया। और एक दिन शान्त-प्रसन्न चित्त से परिषद् भवन की ओर प्रस्थान किया। वे फिर पैदल ही चले और आनन्द मे डूबते-उतराते आगे बढ़ते चले गये। वे परिषद् भवन के विशाल द्वार पर पहुँचे और फिर सिर झुका कर भीतर चले गये। द्वाररक्षक ने एक किनारे हट कर उन्हें जाने दिया। परिषद् बैठी हुई थी। धर्मेश्वर एक किनारे, अध्यक्ष का इशारा पाकर खड़े हो गये। उन्होने हाथ जोड कर और सिर झुका कर परिषद् की वन्दना की। कुछ देर के बाद अध्यक्ष ने धीर-गम्भीर स्वर मे पूछा—"परिषद् की सेवा में आचार्य किस उद्देश्य से आये ?"

धर्मेश्वर ने अभिवादन करके कहा— महोदय, एक मास पहले परिषद् की ओर से आपने मुझे आदेश और अधिकार दिया था कि मैं अपने सम्बन्ध मे स्वय निर्णय कर लूं, मैं अपना निर्णय परिषद् की सेवा मे उपस्थित करने आया हूँ। आदेश चाहता हूँ।"

चुप रह कर परिषद् ने आदेश दिया। धर्मेश्वर ने फिर परिषद् का अभिवादन किया और उल्लसित कंठ से निवेदन किया—"मैंने पर्याप्त सोच-विचार के बाद अपने को अपराधी पाया और यह निर्णय किया कि मुझे अब धरती पर रहने का कोई भी अधिकार नही है क्योकि मैंने इस पवित्र और नैसर्गिक अधिकार का उपयोग बुरे तरीके से किया, अत: मैं अपने आपको चिताग्नि मे जला डालने का फैसला देता हूँ।"

घबराहट और बेचैनी फैल गई। धर्मेश्वर का मुख-मडल आत्मतोष के तेज से दमक रहा था। अध्यक्ष का चेहरा फक् पड़ गया। सभी राजन् व्यग्र हो उठे—इतना भयानक निर्णय! उन्होंने ऐसी कल्पना भी नही की थी।

धर्मेश्वर ने हाथ जोड कर निवेदन किया —"मैं इस परिषद् को भगवान् का विराट् स्वरूप मानता हूँ और यह है भी! मैं कल प्रयाग की ओर प्रस्थान करूँगा और पवित्र त्रिवेणी तट पर दंड और प्रायश्चित्त एक साथ ही सम्पन्न करूँगा। मैं कभी वैशाली गणतत्र का मुख्यामात्य

भी था। ज्ञान और अज्ञान रूप में यदि मुझ से कुछ भूल हुई हो तो परिषद् क्षमा कर दे।'

इतना बोल कर धर्मेश्वर कुछ क्षण चुप रहे और फिर परिषद् का अभिवादन करके मुस्कराते हुए विदा हो गये। परिषद् में ऐसी सनसनी छा गई कि फिर कोई काम न हो सका।

धर्मेश्वर आनन्द में डूबते-उतराते कुटिया की ओर लौट चले। वे उस दिन जीत कर लौट रहे थे ! ! !

पूर्णाहुति

विनाश यज्ञ की पूर्णाहुति का अवसर उपस्थित हो गया। जिस यज्ञ-कुंड मे वर्षकार ने नरकाग्नि की स्थापना की थी वह अग्नि आहुतियो से तृप्त होकर पूर्ण वेग से नृत्य कर रही थी। तीन वर्ष तक लगातार वर्षकार एक से एक मूल्यवान आहुतियाँ देता रहा—वैशाली के श्रेष्ठ पुरुष स्वाहा की भेंट हो गये और वहाँ की सुख-शान्ति, सम्पदा-श्रेष्ठता भी उस हवन-कुंड मे झोंक दी गई। मानवता और वीरता का भी बलिदान हो गया। वैशाली में क्या बचा? अव्यवस्था, कलह, विद्रोह, विश्वासघात और वर्ग विद्वेष। स्त्रियो का अपमान, अनाचार, व्यभिचार जहाँ दस-बीस व्यक्ति एकत्र हुए दंगा-फिसाद। वेश्यालयो और पानशालाओ मे उत्सव-आनन्द, किन्तु पूजा-स्थानों में ताले डाल दिये गये।

वैशाली के राजनीतिज्ञों ने अपना-अपना उल्लू सीधा करने के लिये राष्ट्र के गले पर ही छुरी फेरना आरम्भ कर दिया। कभी एक वर्ग को उत्तेजना दी जाती, संरक्षण दिया जाता तो कभी दूसरे वर्ग को सिर चढाया जाता। कभी ब्राह्मणों की पीठ ठोकी जाती तो कभी चाँडालो को ब्राह्मणो के सिर पर लाकर बैठा दिया जाता। वहाँ एक वर्ग ऐसा भी पैदा हो गया जो 'शासक वर्ग' कहा जाता था—वह वर्ग था क्षत्रियों का। इस वर्ग ने दूसरे वर्गों को आपस मे उलझा-उलझा कर पूरे राष्ट्र